जनवरी 1991

मूल्य 5 रुपये

कुरुक्षेत्र

शिक्षा नीति में परिवर्तन क्यों ?

राम बहादुर सिंह ने ग्रामीण विकास राज्य मंत्री का कार्यभार सम्भाला

ग्रामीण विकास विभाग, श्री राम बहादुर सिंह जिन्होंने 22.11.1990 को ग्रामीण विकास विभाग के राज्य मंत्री के रूप में पदभार सम्भाला है, का हार्दिक स्वागत करता है। श्री राम बहादुर सिंह का जन्म 3 मार्च, 1934 को हरपुर में हुआ जो कि बिहार के सारण जिले का एक दूर-दराज का गांव है। श्री राम बहादुर सिंह ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा गांव के स्कूल में प्राप्त की। बाद में उन्होंने छपरा में राजेन्द्र कालेज से कला-स्नातक की डिग्री प्राप्त की। कालेज में अपना अध्ययन पूरा करने के बाद उन्होंने सहकारी और कृषि आंदोलनों में भाग लिया और 1964 में वे जेल गए।

वस्तुत: उनका राजनैतिक जीवन 1949 में ही शुरू हो चुका था, जब उन्होंने तत्कालीन समाजवादी पार्टी में प्रवेश किया। उनकी वित्तीय स्थिति काफी कमजोर थी लेकिन उनमें उत्साह काफी था। इसलिए कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उनको अपना सदस्यता शुल्क अदा करने के लिए एक बार पैसा उधार भी लेना पड़ा। 1953 में उन्होंने 'प्रजा सोशलिस्ट पार्टी' में

बन गए। उन्होंने 1967 में सफलतापूर्वक एसेम्बली का चुनाव लड़ा और 1972 में पुन: विधायक निर्वाचित हुए। सर्वोदय नेता स्वर्गीय श्री जय प्रकाश नारायण जो कि 'सम्पूर्ण क्रांति' आन्दोलन के जन्मदाता थे, के कहने पर उन्होंने 1974 में अपनी विधानसभा सीट से त्यागपत्र दे दिया। उन्हें दो बार आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत नजरबंद रखा गया।

1977 में उन्होंने जनता पार्टी के टिकट पर मांझी एसेम्बली सीट का चुनाव लड़ा और विजयी हुए। 1984 में वे छपरा संसदीय निर्वाचन क्षेत्र से सांसद बने। वस्तुत: वे जनता पार्टी के अकेले संसद सदस्य थे जो उत्तरी भारत से निर्वाचित हुए थे। 1990 में श्री सिंह जनता दल के टिकट पर महाराजगंज संसदीय निर्वाचन क्षेत्र से पुन: संसद सदस्य निर्वाचित हुए।

श्री सिंह लोक एवं सुगम संगीत में रुचि रखते हैं और उन्हें घूमने और पढ़ने का शौक है किन्तु लोगों से मिलते रहना और उनके जीवन के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित समस्याओं को समझना उन्हें अधिक प्रिय लगता है। ऐसी आशा है उनके

वर्ष—36, अंक 3, पौष-माघ-शक-1912

कुरुक्षेत्र

ग्रामीण विकास विभाग का प्रमुख मासिक

'कुरुक्षेत्र' के लिए मौलिक लेख, कहानी, एकांकी, कविता, संस्मरण, हास्य-व्यंग्य चित्र आदि भेजिए। अस्वीकृत रचनाओं की वापसी के लिए टिकट लगा व पता लिखा लिफाफा साथ आना आवश्यक है।

'कुरुक्षेत्र' की एजेन्सी लेने, ग्राहक बनने, पता बदलने या अंक न मिलने की शिकायत, व्यापार व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001 से कीजिए।

सम्पादक : राम बोध मिश्र
सहायक सम्पादक : गुरचरण लाल लूथरा
उप सम्पादक : राकेश शर्मा

विज्ञापन प्रबंधक : वैजनाथ राजभर
व्यापार व्यवस्थापक : जसवंत सिंह
सहायक व्यापार
व्यवस्थापक : शकुन्तला
उत्पादन अधिकारी : के. आर. कृष्णन्

आवरण पृष्ठों की
साज सज्जा : अलका नय्यर
चित्र : विजेन्द्र सिंह एवं फोटो प्रभाग

वार्षिक चंदा : 30 रु.

विषय सूची

शिक्षा के बारे में दृष्टिकोण पत्र— कुछ विचार 2
मेलकॉम आदिशेषैया

प्रौढ़ शिक्षा का महत्व 4
डॉ. हरदयाल

शिक्षा के परिप्रेक्ष्य पत्र पर विचार 8
डा. अणिमा बोस

अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण हेतु बुनियादी नई शिक्षा नीति 11
ईश्वरलाल पं. वैश्य

नई शिक्षा नीति की समीक्षा से मैकालेवाद में बदलाव की संभावना 15
डा. जगबीर कौशिक

नई शिक्षा नीति और राममूर्ति समिति 19
मनोज कुमार श्रीवास्तव एवं अशोक कुमार पाण्डेय

सप्तर्षि दोहे 22
डा. देवेन्द्र सिंह

ग्रामीण परिप्रेक्ष्य में शिक्षा : एक अवलोकन 23
बृजेश कुमार पाठक एवं श्रीप्रकाश गुप्त

शिक्षा नीति समीक्षा एवं बाल तथा प्रौढ़ शिक्षा 30
डा. बद्री विशाल त्रिपाठी

शिक्षा प्रणाली में नागरिकों की सहभागिता 33
डा. अजित कुमार गौड़

शिक्षा का वर्तमान स्वरूप और भावी चुनौतियां 37
सुशील रंजन

शिक्षा : नये आयाम 40
डा. उषा अरोड़ा

शिक्षा नीति से जुड़े कुछ महत्वपूर्ण पहलू 43
हरि बिश्नोई

शिक्षा और व्यवसाय 47
'बेदिल' सरहदी

ग्रामीण क्षेत्रों में व्याप्त अशिक्षा की समस्याएं एवं समाधान 49
कृष्ण कान्त पाठक

शिक्षा नीति का सिंहावलोकन 55
सुबह सिंह यादव

शिक्षा और सामाजिक विकास 60
राजीव पंछी

यह नया वर्ष मंगलमय हो/नव वर्ष का अभिनन्दन 62
विलास बिहारी/राधेश्याम आर्य

ग्रामीण निरक्षरता और उपेक्षित प्राथमिक शिक्षा 63
डा. हुकम चन्द जैन

सबके लिए शिक्षा : बुनियादी परिवर्तनों की जरूरत 66
डा. हेमचंद जैन

प्रकाशित लेखों में अभिव्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं तथा यह आवश्यक नहीं कि सरकारी दृष्टिकोण भी यही हो।

सम्पादकीय पत्र व्यवहार : सम्पादक, कुरुक्षेत्र (हिन्दी), कृषि मंत्रालय, ग्रामीण विकास विभाग, 467, कृषि भवन, नई दिल्ली के पते पर करें।
दूरभाष : 384888

शिक्षा के बारे में दृष्टिकोण पत्र—कुछ विचार

मेलकॉम एस. आदिशेषैया

जनता दल के घोषणापत्र और योजना आयोग द्वारा तैयार आठवीं योजना के दृष्टिकोण-पत्र के कुछ-एक मुद्दों के बारे में अपने मतभेद मैं यहां लिखित रूप में प्रस्तुत करना चाहता हूं। दृष्टिकोण-पत्र में 'शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तन' की आवश्यकता की जो बात कही गई है (पैरा 5, 'शिक्षा नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन', 118-जे) उसके बारे में मैंने पहले ही अपनी असहमति प्रकट कर दी थी। शिक्षा एक ऐसा पौधा है जिसकी जड़ें नाजुक होती हैं। अगर इसे थोड़े-थोड़े समय बाद उखाड़ कर फिर से लगाया जाता रहा तो निश्चित है कि यह पौधा सूख जाएगा। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा प्रणाली की वर्तमान विसंगतियों का पता लगाकर उन्हें दूर किया जाए। हमारी शिक्षा प्रणाली की ये विसंगतियां 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति से काफी पहले की हैं। इन्हें दूर करने के लिए नई शिक्षा नीति में नवोदय विद्यालय जैसे विचार अपनाए गए। दृष्टिकोण-पत्र में कुल मिलाकर इन्हीं गलतियों को दूर करने का प्रयास किया गया है। जहां तक दृष्टिकोण-पत्र का सवाल है मैं इसमें दिए गए (अ) 'मुद्दों पर विचार' और (आ) 'कुछ विशेषताएं' शीर्षक के अंतर्गत बताई गई बातों से मोटे तौर पर सहमत हूं।

गलतियां दूर करने की आवश्यकता

शिक्षा के बारे में हाल में गठित समिति को दो तरह के मुद्दों को सुलझाना है। एक ओर इसे (अ) देश की विशाल जनसंख्या, क्षेत्रफल तथा भाषाई और सांस्कृतिक विविधता तथा (आ) स्थानीय स्तर पर योजना निर्माण (क्षेत्रीय आवश्यकतानुसार आयोजना) और विकास कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के बारे में आम सहमति को देखते हुए केन्द्रीय या राज्य विधायिका के दायरे में आने वाले आवश्यक और अनिवार्य निर्देशों के बीच अंतर स्पष्ट करना है। दूसरी ओर मुख्य दिशा-निर्देशों, सुझावों तथा स्थानीय आयोजना और क्रियान्वयन करने वाली इकाइयों द्वारा किए जाने वाले आवश्यक परिवर्तनों तथा संशोधनों के बीच भी अंतर स्पष्ट करना है। अब तक की शिक्षा समितियां इस तरह का अंतर स्पष्ट करने में असफल रही हैं। इन समितियों द्वारा अपनी सिफारिशें अनिवार्य रूप में ही रखी गई हैं जिस कारण इन्हें लागू नहीं किया जा सका। आठवीं योजना के दृष्टिकोण-पत्र में इसी गलती का अंदेशा है। कितना अच्छा होता अगर अनिवार्य सिफारिशों और दिशानिर्देश के रूप में दी गई सिफारिशों की स्पष्ट परिभाषा की जाती और दोनों का एक-दूसरे से अंतर स्पष्ट किया जाता।

अधिक धन

दूसरा मुद्दा दृष्टिकोण-पत्र के पृष्ठ 15 में 22वें अनुच्छेद और पृष्ठ 32 में 9वें अनुच्छेद में दिया गया है। शिक्षा के लिए अधिक धनराशि निर्धारित करने की बात उचित तथा संतोषप्रद ढंग से कही गई है। इस संदर्भ में वर्तमान व्यवस्था के अंतर्गत शिक्षा के क्षेत्र में भारी आर्थिक बर्बादी की ओर ध्यान दिलाना उचित होगा। 1976 में मैं तमिलनाडु वित्तीय समीक्षा समिति का अध्यक्ष था। यहां इसी के बारे में एक उदाहरण देना उचित होगा। जांच के बाद हमने पाया कि सरकार द्वारा शिक्षा के लिए बजट में निर्धारित 10 से 11 करोड़ रुपये वार्षिक तक की राशि का करीब 10 प्रतिशत फर्जी अध्यापकों की भर्ती, अलाभप्रद आर्थिक प्रोत्साहन सरकारी कालेजों और सहायता प्राप्त करने वाले कालेजों में शिक्षण-शुल्क के भारी अंतर को कम करने के लिए दी जाने वाली सहायता के रूप में दिया जा रहा था। इस तरह की आर्थिक हानि का पता लगाने के लिए प्रत्येक राज्य में पांच-पांच वर्ष के बाद शिक्षा प्रणाली की सभी इकाइयों की आर्थिक समीक्षा कराई जानी चाहिए। अधिक धनराशि की मांग पूरा करने से पहले प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को पैसा दिया जाना चाहिए।

जिस एकमात्र महत्वपूर्ण मुद्दे को लेकर मैं दृष्टिकोण-पत्र से पूरी तरह असहमत हूं वह प्रौढ़-शिक्षा से संबंधित है। पृष्ठ 4 और 8 में प्रौढ़ शिक्षा की पूरी तरह उपेक्षा की गई है। प्रश्न यह है कि समाज के एक बड़े हिस्से को शिक्षा के साधनों से क्यों वंचित रखा जाए जबकि साधन संपन्न वर्गों के लोग प्राथमिक शिक्षा के लिए चार वर्ष (पहली से चौथी कक्षा तक) का समय लेते हैं। हालांकि साक्षरता शिक्षा नहीं है लेकिन यह शिक्षा की एकमात्र कुंजी है। यहां ऐसा प्रतीत होता है कि समिति एक

कमजोर ढांचा खड़ा करके उसे गिराने का प्रयास कर रही है। न्याय, विकास और अस्तित्व जैसे सवाल शिक्षा के दायरे में सीधे नहीं आते। ये प्रश्न समाज में परिवर्तन से जुड़े हैं और हमारे समाज की असमानताओं वाली व्यवस्था पर केन्द्रित हैं। इस व्यवस्था को बदलने की आवश्यकता प्रौढ़ शिक्षा आंदोलन और इसकी कार्य प्रणाली का एक हिस्सा है। प्रौढ़ शिक्षा का उद्देश्य शिक्षा तथा अन्य कई उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक व्यवस्था करना है। तंजानिया, मैक्सीको, दक्षिण कोरिया और भारत सहित सभी कम्यूनिस्ट देशों में यही प्रयास किया जा रहा है। अशिक्षा और इससे संबंधित गरीबी और बीमारी जैसी समस्याओं को दूर करने के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष ने एक वर्ष तक विश्वविद्यालयों और कालेजों को बंद करने तथा अध्यापकों और विद्यार्थियों को इस कार्य में लगाने का सुझाव रखा है। मैं समझता हूं कि समिति को इस संबंध में विश्वविद्यालयों, राजनीतिक दलों तथा स्थानीय और राष्ट्रीय नेताओं के सहमत होने की जानकारी होगी। इतना तो निश्चित है कि प्रौढ़ शिक्षा अभियान को स्थगित करने का उचित समय अभी नहीं आया है।

कुछ अन्य मुद्दों पर मेरी कुछ जिज्ञासाएं हैं। पृष्ठ पांच के 11वें और पृष्ठ 16 के 23वें पैराग्राफ में शिक्षा को समवर्ती सूची में शामिल करने की शिक्षा-विरोधी कार्रवाई को एक गलत दलील के जरिए सही ठहराने की कोशिश की गई है। दरअसल आपातकाल के दौरान की इस कार्रवाई का वास्तविक उद्देश्य केन्द्र सरकार की शक्ति और नियंत्रण को बढ़ाना था। इस प्रकार राष्ट्रीय आधारभूत पाठ्यक्रम (पृष्ठ-13) की अवधारणा हमारी शिक्षा नीति के बुनियादी सिद्धान्त के विपरीत है।

पृष्ठ सात पर क्रम संख्या एक से सात तक के विचारों से मैं सहमत हूं। लेकिन मनुष्यों के लिए 'मानव संसाधन' शब्द का इस्तेमाल उचित नहीं है। अर्थशास्त्री के लिए मनुष्य मानवीय संसाधन ही हैं और एक अर्थशास्त्री के नाते मैं भी अर्थशास्त्र के संदर्भ में मनुष्य को मानवीय संसाधन मानता हूं लेकिन शिक्षा के क्षेत्र में उसे वस्तु नहीं माना जा सकता। श्री राजीव गांधी के शासनकल में मंत्रालय का नाम मानव संसाधन विकास मंत्रालय रखा गया था। उनके बाद की दो सरकारों ने भी इसी नाम का प्रचलन जारी रखा है। ऊपर बताए गए मेरे तर्कों के आधार पर इस नाम के बारे में फिर से विचार किये जाने की जरूरत है।

मेरे विचार से दृष्टिकोण-पत्र के जिन महत्वपूर्ण खण्डों पर कार्रवाई की जानी चाहिए और जिन्हें स्थानीय संस्थाओं और शैक्षिक इकाइयों को क्रियान्वित करना चाहिए वे इस प्रकार हैं : पृष्ठ 7, अनुच्छेद 111; पृष्ठ 18-19, अनुच्छेद 1 (कुछ विशेषताएं); पृष्ठ21-24 में अनुच्छेद 3; और पृष्ठ 25 में अनुच्छेद 4।

पृष्ठ 26 में भाषा संबंधी और पृष्ठ 12 के अनुच्छेद 14 में कालेज और विश्वविद्यालय कार्यक्रम से संबंधित खंड मुझे कुछ भ्रामक लगा। पृष्ठ 12 के अनुच्छेद 16 में सामाजिक-विज्ञान अनुसंधान के बारे में बिना किसी भूमिका के जिक्र किया गया है।

अंत में, नैतिक शिक्षा से संबंधित अनुच्छेद में दो महत्वपूर्ण नियायकों की उपेक्षा की गई है। जब तक समाज में असमानता, अन्याय और शोषण जारी है शिक्षा में भी ये बातें दिखाई देने लगेंगी। शिक्षा से असमानताओं को दूर किया जा सकता है। लेकिन लिखित पाठ्यक्रम के अलावा ऐसा पाठ्यक्रम भी होता है जो औपचारिक रूप से तो नहीं रहता लेकिन जो अध्यापकों और माता-पिता के आचरण के रूप में विद्यार्थियों के सामने रहता है। यही 'अदृश्य पाठ्यक्रम' विद्यार्थियों के लिए बुनियादी नैतिक मूल्यों को अपनाने की प्रेरणा देता है।

डी-1/65,
लोधी रोड, नई दिल्ली-110003

प्रौढ़ शिक्षा का महत्व

डॉ. हरदयाल

प्राचीन भारत में हमारी देशीय स्थितियों के अनुकूल विकसित श्रेष्ठ शिक्षा-पद्धति विद्यमान थी, जिसके कारण ज्ञान के क्षेत्र में हमने स्पृहणीय उपलब्धियां प्राप्त की थीं, लेकिन सैकड़ों साल की पराधीनता ने हमारी इस शिक्षा-पद्धति को लगभग नष्ट कर दिया और जो बची उसमें तमाम विकृतियां आ गईं। उन्नीसवीं शताब्दी के पुनर्जागरण काल के नेताओं ने शिक्षा के महत्व को समझा और अपने-अपने ढंग से शिक्षा के क्षेत्र में कार्य किया। उत्तरी भारत में स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से उनके अनुयायियों ने गुरुकुलों की स्थापना की। अंग्रेजों ने अपने राज को पुष्ट करने के लिए उस शिक्षा-प्रणाली की स्थापना की जो आज प्रचलित है। स्वाधीनता आन्दोलन के नेताओं और बाद में स्वतंत्र भारत की सरकार ने इस बात का बराबर अनुभव किया कि जो शिक्षा-पद्धति अंग्रेजों के द्वारा प्रचलित की गई है और जिसे हमने अपना लिया है वह हमारी आवश्यकताओं को ठीक से पूरा नहीं कर पा रही है। उसमें ऐसी अनेक त्रुटियां हैं जिन्हें ठीक किया जाना चाहिए। प्रचलित शिक्षा-प्रणाली में सुधार और हमारी स्थितियों और आवश्यकताओं के अनुकूल शिक्षा-पद्धति की खोज के उद्देश्य से स्वतंत्र भारत में कई आयोगों और समितियों की स्थापना की गई। इन आयोगों और समितियों ने अपनी विद्वत्तापूर्ण रपटें प्रस्तुत कीं और संस्तुतियां दीं, जिनमें से कुछ को लागू किया गया और कुछ को लागू नहीं किया गया। इनमें से नवीनतम प्रयत्न 1985 में किया गया, जिसके परिणामस्वरूप 1986 में 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति' की घोषणा की गई। इस घोषणा को लेकर शिक्षा के क्षेत्र में असंतोष का वातावरण कम नहीं हुआ। 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति की समीक्षा के लिए आचार्य राममूर्ति की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई है जिसने कुछ सिफारिशें की हैं।

स्पष्ट है कि हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली सन्तोषजनक नहीं है। उसकी कुछ त्रुटियां और दुष्परिणाम तो एकदम साफ दिखाई देते हैं। जो शिक्षा आज हम दे रहे हैं वह शिक्षित व्यक्तियों को अपनी मिट्टी से अपने लोगों से काटती है। इस शिक्षा को प्राप्त करने के बाद व्यक्ति आत्मनिर्भर नहीं बनता है अपितु अपनी जीविका के अर्जन के लिए परमुखापेक्षी बनता है, नौकरी खोजता है। यह शिक्षा शारीरिक श्रम के प्रति घृणा उपजाती है और शारीरिक श्रम करने वालों को हेय दृष्टि से देखने की प्रेरणा देती है। यह शिक्षा प्राप्त करने वाला व्यक्ति स्वाधीनचेता बनने के बजाय मानसिक दासत्व का शिकार हो जाता है। यह शिक्षा हमारे स्वाभिमान को खण्डित करती है और सामाजिक विषमता और विभाजन की ओर ले जाती है। इस शिक्षा-प्रणाली में जो ज्ञान प्रवाहित हो रहा है वह पश्चिमी यूरोप और अमरीका से आयातित है और इसका मुख्य माध्यम भी एक विदेशी भाषा है। इसके कारण इस शिक्षा के पाने वाला भारतीय भारत से जुड़ने के बजाय विदेशोन्मुख बनता है और मौका मिलते ही इस देश से पलायन कर जाता है। इस पलायनवृत्ति पर कोई लज्जा का अनुभव नहीं करता, उलटे गर्व का अनुभव किया जाता है। परीक्षा-प्रणाली कुछ ऐसी है कि विद्यार्थी में मौलिक सोच, तथ्यान्वेषण, विश्लेषण और निष्कर्षण की क्षमता विकसित नहीं होती बल्कि वह रट्टू तोता बन जाता है। इससे शिक्षा का मूल उद्देश्य ही खण्डित हो जाता है अर्थात् इस शिक्षा के द्वारा शिक्षित व्यक्ति के न बाह्य व्यक्तित्व का विकास हो पाता है न आन्तरिक व्यक्तित्व का। इस शिक्षा-प्रणाली में कोई मूलभूत कमी है जिसके कारण सारे सरकारी प्रयत्नों के बावजूद हमारे देश में—विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में निरक्षरों की संख्या कम होने के स्थान पर बढ़ती जाती है।

निरक्षरों की अत्यधिक संख्या को देखकर 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में निरक्षरता और अशिक्षा को दूर करने के लिए कुछ उपाय किए गए। इनमें से एक था अनौपचारिक शिक्षा को प्रोत्साहन देना और दूसरा था प्रौढ़ शिक्षा का अभियान। इस नीति में प्रौढ़ शिक्षा को कुछ विशेष उद्देश्यों के साथ जोड़ा गया—"लिखने-पढ़ने की क्षमता पैदा करने के अतिरिक्त प्रौढ़ शिक्षा को गरीबी दूर करने, राष्ट्रीय एकता, पर्यावरण संरक्षण, लोगों की सांस्कृतिक सृजनशीलता को प्रोत्साहित करने, छोटे परिवार का मापदण्ड अपनाने एवं महिलाओं की समानता को समर्थन देने आदि से जोड़ा जाना था।" लेकिन यह हो नहीं पाया—न प्रौढ़ों को साक्षर बनाया जा सका और न उन लक्ष्यों की प्राप्ति हो पाई जिनसे प्रौढ़ शिक्षा को जोड़ने की बात कही गई थी। आचार्य राममूर्ति की अध्यक्षता में बनी समीक्षा समिति ने प्रौढ़ शिक्षा को नई दृष्टि से देखा है। उसने 'शिक्षा के सम्बन्ध में परिप्रेक्ष्य पर्चा' में इस सन्दर्भ में कहा है—

"यह जरूरी नहीं कि प्रौढ़ों के मामले में पढ़ने और लिखने की असमर्थता का अर्थ उनमें शिक्षा की कमी ही हो। एक निरक्षर व्यक्ति में भी जीवन की परिस्थितियों के लिए आवश्यक गणितीय कौशल हो सकता है और अत्यन्त विकट हालातों से जूझने के लिए उच्च कोटि की संवेदनशीलता और क्षमता भी हो सकती है। उनमें घर और बाहर के काम के लिए आवश्यक व्यावसायिक कौशल, स्थानीय प्राकृतिक संसाधनों एवं पर्यावरण की विस्तृत जानकारी और सामाजिक ढांचे व ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्पराओं की समझ भी हो सकती है। इसलिए प्रौढ़ साक्षरता को शिक्षा का पर्याय मानकर उस पर बल देने की कोशिश उचित नहीं होगी। साफ बात तो यह है कि निरक्षर व्यक्ति जरूरी नहीं कि अशिक्षित व्यक्ति हो। यहां हमारा उद्देश्य निरक्षरता को रूमानियत में रंगना नहीं है, बल्कि प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के सार्थक ढंग से पुनर्निर्माण की जरूरत को रेखांकित करना है। इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि यह सुनिश्चित किया जाए कि इस दशक में सब बच्चे स्कूली शिक्षा पा जाएं ताकि वे बड़े होकर अगली सदी में निरक्षरों की संख्या न बढ़ाएं।"

समीक्षा-समिति के उपर्युक्त वक्तव्य का विश्लेषण करने पर तीन बातें सामने आती हैं—एक,साक्षरता और शिक्षा पर्याय नहीं हैं। दो,प्रौढ़ शिक्षा तभी सार्थक बन पाएगी जब उसे पुनर्निर्माण की आवश्यकताओं से जोड़ा जा सकेगा। और तीन, यदि हम चाहते हैं कि इक्कीसवीं सदी में हमारे यहां निरक्षरों की संख्या कम हो तो बीसवीं शताब्दी के दसवें दशक में सभी बच्चों को अनिवार्य रूप से शिक्षा देनी होगी। स्पष्टता के लिए इनमें से एक-एक मुद्दे को लेकर विचार करना उचित होगा।

सबसे पहले साक्षरता और शिक्षा को लें। इसमें कोई संदेह नहीं है कि साक्षरता और शिक्षा पर्याय नहीं है; लेकिन सामान्यतः उन्हें पर्याय मान लिया जाता है। इसका कारण यह है कि साक्षरता के द्वारा व्यक्ति की लिखने-पढ़ने की जो क्षमता विकसित होती है उसके द्वारा ज्ञान प्राप्त करना अधिक आसान हो जाता है। ज्ञान अनुभव के द्वारा भी प्राप्त किया जाता है किन्तु अनुभव के द्वारा प्राप्त ज्ञान अत्यंत सीमित होता है। वह ज्ञान इतना सीमित होता है कि उसके द्वारा दैनिक जीवन की सामान्य गतिविधियां चलाई जा सकती हैं और सामान्य समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। व्यक्ति के अनुभव के द्वारा प्राप्त ज्ञान उसके मानसिक क्षितिज को विकसित नहीं करता, उसकी विश्वदृष्टि को व्यापक नहीं बनाता, उसकी कल्पनाशीलता को विस्तृत आयाम प्रदान नहीं करता; और इन सबके कारण उसमें नवोन्मेष करने वाली सृजनशीलता विकसित नहीं होती। निरक्षर व्यक्ति अपनी सारी विलक्षणता और अनुभव के बावजूद कुएं का मेढक ही बना रहता है। प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार, विकास-योजनाओं की अवांछित असफलता, राजनैतिक ठगी, अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति नागरिकों की उदासीनता आदि का कारण हमारे देश की बहुत बड़ी जनसंख्या का निरक्षर और औपचारिक शिक्षा से वंचित रहना है। साक्षरता अपने आप में लक्ष्य नहीं है। वह तो शिक्षा का माध्यम भर है; लेकिन साक्षरता के बिना शिक्षा संभव कैसे होगी? ऐसी बात नहीं है कि निरक्षर प्रौढ़ साक्षरता और शिक्षा का महत्व न समझते हों। जब कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति उनसे बात करता है तो वे छूटते ही कहते हैं कि आपकी क्या बात है! आपके तो चार आंखें हैं। वे पढ़े-लिखे आदमी के सामने अपने को हीन अनुभव करते हैं। फिर भी वे पढ़ना-लिखना क्यों नहीं सीखते? एक तो इसलिए कि उनमें आत्मविश्वास का अभाव है। आप उनसे पढ़ने-लिखने की बात कहिए, आपको तुरन्त उत्तर मिलेगा—क्या हम पढ़-लिख सकते हैं? फिर जैसे हताशा में वे स्वयं ही इस प्रश्न का उत्तर दे देंगे—बूढ़ा तोता क्या पढ़ेगा? असल में हमारे निरक्षर प्रौढ़ों में यह आत्मविश्वासहीनता शताब्दियों की दासता की देन है। हमें स्वाधीनता प्राप्त किए चार दशक से अधिक समय हो गया है, लेकिन हमारा जनमानस अभी भी पराधीन है।

प्रौढ़ साक्षरता और शिक्षा का महत्व समझते हैं; फिर भी वे इस दिशा में प्रयत्नशील नहीं होते। क्यों? क्योंकि उनकी समझ में उनके अपने संदर्भ में इसकी उपयोगिता नहीं आती। यहां प्रौढ़ शिक्षा की सार्थकता का प्रश्न उठता है। यदि प्रौढ़ों की समझ में प्रौढ़ शिक्षा की सार्थकता आ जाए तो इस समस्या का समाधान बहुत आसान हो जाएगा। वे स्वयं शिक्षा की ओर अभिप्रेरित नहीं हैं; क्योंकि उन्होंने तो यही जाना है कि शिक्षा प्राप्त करने का अर्थ नौकरी करना है। इसलिए वे आपसे पूछते हैं कि हमें क्या नौकरी करनी है जो हम पढ़े-लिखें? शिक्षा और नौकरी हमारे यहां ऐसे जुड़ गए हैं कि शिक्षा का और कोई उद्देश्य ही हमारी समझ में नहीं आता है। इस धारणा को तोड़ने की आवश्यकता है तभी शिक्षा को सार्थक बनाया जा सकता है। शिक्षा की नौकरीतर सार्थकता समझाकर प्रौढ़ों को साक्षरता और शिक्षा के प्रति अभिप्रेरित करने की आवश्यकता है। यह अभिप्रेरणा भाषणों और प्रतिवेदनों से नहीं दी जा सकती, बल्कि निष्ठा से दी जा सकती है। आज आवश्यकता गांधीजी जैसे निष्ठावान नेतृत्व की है जो समर्पित कार्यकर्ताओं की जमात पैदा कर सकें और प्रौढ़ शिक्षा को एक आंदोलन बना दें। यदि ऐसा कोई आंदोलन खड़ा किया जा सके और प्रौढ़ों को शिक्षित बनाया जा सके तो गरीबी दूर करने, राष्ट्रीय एकता स्थापित करने, पर्यावरण के संरक्षण, जन की सांस्कृतिक

सृजनशीलता जाग्रत करने, परिवार नियोजन और जन-जन की समानता आदि के कार्य अल्प आयास में सिद्ध हो जाएंगे। लेकिन आज निष्ठा का ही तो सबसे अधिक अकाल है। हम शब्दों का उच्चारण तो बहुत करते हैं, लेकिन क्या हम उनके पीछे के अर्थ पर भी ध्यान देते हैं। पिछले चालीस वर्षों में कथनी और करनी के बीच जो लम्बी-चौड़ी खाई खुद गई है, योग्यता की जैसी अवहेलना और अपमान हुआ है, बेईमानी, रिश्वतखोरी, भाई-भतीजावाद जिस तेजी से वर्चस्वी बना है, उसने हमारी आस्था को ही खण्डित कर दिया है। पूरा-का-पूरा राष्ट्र संदेहवादी (सनकी) हो गया है। ऐसी स्थिति में यदि प्रौढ़ शिक्षा को लेकर सरकार का संकल्प बार-बार असफल हुआ है तो इसमें आश्चर्य की बात क्या है?

हमारे संविधान के चौथे भाग में राज्य की नीति के निदेशक तत्वों में एक यह भी है—"राज्य, इस संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की अवधि के भीतर सभी बालकों को चौदह वर्ष की आयु पूरी करने तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए उपबंध करने का प्रयास करेगा।" संविधान लागू होने के चालीस वर्ष बाद भी राज्य अपने इस काम को पूरा नहीं कर पाया। अब आचार्य राममूर्ति की अध्यक्षता वाली समीक्षा समिति भी राज्य से यही आग्रह 1990 में कर रही है—"यह सुनिश्चित किया जाए कि इस दशक में सब बच्चे स्कूली शिक्षा पा जाएं ताकि बड़े होकर अगली सदी में निरक्षरों की संख्या न बढ़ाएं।" इसे पढ़कर हमारे मन में प्रश्न उठता है कि क्या यह सुनिश्चित किया जा सकेगा? और निराश होकर हमारा मन उत्तर देता है—नहीं। क्योंकि सच्चे मन से प्रयत्न कौन कर रहा है? आर्थिक-सामाजिक स्थितियां ऐसी हैं कि हमारे ग्रामीण और गरीब जन अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेजते। विभिन्न राज्य सरकारों ने जो प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालय खोल रखे हैं उनकी हालत ऐसी है कि न तो वे बच्चों को आकर्षित करते हैं और न उनको ठीक शिक्षा मिलती है। कहीं विद्यालयों के भवन नहीं हैं, कहीं बच्चों के बैठने के लिए टाट-पट्टी नहीं है तो कहीं अध्यापक ही नहीं हैं। प्राथमिक शिक्षा हमारे यहां सर्वाधिक उपेक्षित है। शिक्षा के पिरामिड को उलट कर रख दिया गया है। कोढ़ में खाज वाली स्थिति यह है कि अमीर लोगों ने अपने बच्चों की शिक्षा के लिए अलग व्यवस्था कर ली है और सरकार ने इसकी अनुमति दी है। अमीर लोगों के बच्चों की इस अलग व्यवस्था में माध्यम भाषा अंग्रेजी है और इसमें खूब चमक-दमक है। आगे चलकर उच्च शिक्षा, व्यवसाय, प्रशासन, सरकारी नौकरियों आदि में इन्हीं स्कूलों में शिक्षा प्राप्त लोगों का एकाधिकार दिखाई देता है। यदि कोई इस एकाधिकार को तोड़ने का प्रयत्न करता है तो ये लोग मरने-मारने को तैयार हो जाते हैं। इस दुहरी व्यवस्था ने सामाजिक विषमता को ही नहीं बढ़ाया है अपितु गरीब लोगों में शिक्षा के प्रति उत्साह को खण्डित कर दिया है।

इस विकृति को कैसे दूर किया जाए? कैसे चौदह वर्ष की अवस्था तक अनिवार्य शिक्षा दी जाए? मेरे विचार से इसका उत्तर यह है—पूरे देश में प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्चतर माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा एक जैसी हो और निःशुल्क और अनिवार्य हो। प्राथमिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो और उसके बाद हिन्दी हो। अंग्रेजी को माध्यम कदापि न बनाया जाए। अंग्रेजी को एक भाषा के रूप में सीखने की वैकल्पिक छूट विद्यार्थियों को दी जा सकती है। जब एक जैसी स्कूली शिक्षा प्रणाली हो जाएगी तब अपने बच्चों के कैरियर की चिन्ता करने वाले सरकारी कर्मचारी और अमीर लोग स्कूलों की ओर ध्यान देंगे और स्कूली शिक्षा का स्तर निश्चय ही ऊपर उठेगा। स्कूलों की व्यवस्था में बच्चों के अभिभावकों को प्रभावी भागीदारी का अधिकार दिया जाना चाहिए, जिससे इस समय स्कूलों में व्याप्त अराजकता और अव्यवस्था दूर हो।

हर बच्चा चौदह वर्ष की अवस्था तक पढ़ने के लिए स्कूल आए, इसके लिए दण्ड और पुरस्कार दोनों का विधान होना चाहिए। हर बच्चे को आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। परीक्षा तो ली जानी चाहिए, लेकिन उत्तीर्ण और अनुत्तीर्ण करने का कुढंग छोड़ देना चाहिए। अपनी-अपनी मानसिक क्षमता, रुचि और संस्कार के अनुसार अलग-अलग बच्चे अलग-अलग विषयों में अपनी विशेषता दिखाते हैं। इसलिए यदि कोई बच्चा किसी विषय में अच्छे अंक नहीं ला पाता तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह बुद्धू है। हो सकता है कि अन्य विषय/विषयों में वह आगे चलकर कमाल हासिल करे। गणित, अंग्रेजी या इसी प्रकार के किसी अन्य विषय के कारण किसी बच्चे को अनुत्तीर्ण करके उसे आगे न बढ़ने देना उसके प्रति अन्याय है। बहुत से बच्चे इसी कारण अपनी पढ़ाई बीच में छोड़कर बैठ जाते हैं। जो बच्चे पढ़ने में तेज हों, उन्हें छात्रवृत्ति देकर पुरस्कृत करना चाहिए। सरकार इस बात के लिए प्रतिबद्ध हो कि कोई बच्चा आर्थिक कारणों से शिक्षा से वंचित न रह जाए। यदि स्कूली शिक्षा के प्रति ईमानदारी से इस दृष्टिकोण को अपनाया जाएगा तो हम अपने देश से न केवल निरक्षरता को दूर कर पाएंगे बल्कि इतने प्रतिभावान लोगों को आगे ले आएंगे कि हमारी विकास-प्रक्रिया बहुत तेज हो जाएगी और देखते-देखते हमारे देश का कायाकल्प हो जाएगा।

लेकिन इस समय तो हम विपरीत दिशा में चल रहे हैं। शिक्षा को सस्ता और सुलभ बनाने के स्थान पर महंगा और दुर्लभ बना रहे हैं। हमारे देखते-देखते शिक्षा व्यापार बनती जा रही है। स्कूली स्तर पर यह व्यापार पब्लिक स्कूलों के रूपों में

सामने आया है। पब्लिक स्कूलों में जितना शिक्षा-शुल्क वसूल किया जाता है उसे देखते हुए उन स्कूलों में सम्पन्न लोग ही अपने बच्चों को पढ़ा सकते हैं। इन स्कूलों के संचालक इतना धन कमाते हैं कि बहुत कम समय में और बहुत कम पूंजी-निवेश करके रातों-रात धनाढ्य हो जाते हैं। पब्लिक स्कूलों की लाभ कमाने की क्षमता को देखकर अब बड़े पूंजीपति भी इस क्षेत्र में उतर पड़े हैं। अब कोई पूंजीपति उपाधि महाविद्यालय स्थापित नहीं करता, बल्कि पहले से स्थापित महाविद्यालयों से भी हाथ खींच रहे हैं, क्योंकि उनसे किसी प्रकार के आर्थिक लाभ की सम्भावना नहीं है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में आर्थिक लाभ की सम्भावना आयुर्विज्ञान और प्राविधिकी से सम्बंधित महाविद्यालय या संस्थान स्थापित करने में है; क्योंकि उनमें 'कैपीटेशन फी' या अनुदान के नाम पर मनचाही धनराशि शिक्षार्थियों से वसूल की जा सकती है। अतः एक ओर तो पब्लिक स्कूलों, तकनीकी संस्थानों, इंजीनियरिंग कालेजों और मेडिकल कॉलेजों की बाढ़ आ रही है, दूसरी ओर पूर्वस्थापित महाविद्यालय और विश्वविद्यालयों के आर्थिक तंगी के कारण बंद होने की नौबत आ रही है। 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में जिन स्वायत्त (आटोनामस) महाविद्यालयों की परिकल्पना की गई है यदि वे अस्तित्व में आ गए तो समस्त उच्च शिक्षा का क्षेत्र व्यापार का क्षेत्र बन जाएगा। उस अवस्था में शिक्षा प्राथमिक से लेकर उच्च स्तर तक इतनी महंगी हो जाएगी कि देश के बहुत कम लोग अपने बच्चों को शिक्षा दिला पाएंगे और हम निरक्षरों और अशिक्षितों का राष्ट्र बन जाएंगे। शिक्षा के क्षेत्र में पश्चिमी यूरोप और अमरीका का अनुकरण हमें कहां ले जाकर पटकेगा?

पब्लिक स्कूलों से शुरू होने वाली महंगी शिक्षा हमें कहां ले जा रही है, यह विचारणीय है। एक ओर तो यह हमारी अधिसंख्यक जनता में हीन भावना भर रही है, पब्लिक स्कूलों में पढ़े हुए बच्चों के सामने उनके मां-बाप ही अपने को तुच्छ समझते हैं, फिर दूसरे लोगों की तो बात ही क्या? दूसरी ओर अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्र अपने मां-बाप से ही नहीं कटते, अपने देश से भी कट जाते हैं। उनमें परदेशराग उत्पन्न हो जाता है। इसके कारण वे नौकरी की तलाश में विदेशों की ओर पलायन करते हैं। इसके कारण हमारा देश कई उन्नत देशों के लिए वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय कार्मिकों की पूर्ति का सस्ता और सुलभ बाजार बन गया है। इसे रोका जाना चाहिए। इसका एक उपाय तो यह है कि सभी शिक्षा प्राप्त करने वाले युवाओं में देश के प्रति राग उत्पन्न किया जाना चाहिए। शिक्षा का और समाज का प्रयत्न कुछ ऐसा होना चाहिए कि हमारी युवा पीढ़ी अपने देश को लेकर स्वाभिमान से भर सके। यह पश्चिम के तथाकथित उन्नत देशों के अनुकरण से सम्भव नहीं होगा। हमें अपनी पूरी शिक्षा-पद्धति को अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप ढालना पड़ेगा। शिक्षा के जिस भी क्षेत्र में हमने ऐसा किया है, उसके सफल सामने आए हैं; जैसे कृषि विज्ञान के क्षेत्र में।

प्रतिभा पलायन को रोकने का दूसरा उपाय यह है कि प्रारम्भ से लेकर अन्त तक शिक्षा का माध्यम हिन्दी तथा दूसरी भारतीय भाषाओं को बना देना चाहिए। हिन्दी विकसित भाषा है वह किसी भी बात को सम्प्रेषित करने की क्षमता रखती है। यहां यह भी समझ रखनी चाहिए कि भाषा सम्प्रेषण का माध्यम भर नहीं है। वह एक संस्कार भी देती है। अंग्रेजी से यह अपेक्षा करना कि वह हमारे छात्रों में भारतीयता की भावना भरेगी गलत है। यह उन्हीं अंग्रेजों की भाषा है जो बहुत लम्बे समय तक इस देश में रहने के बाद भी इस देश के नहीं हो पाए। वे यहां जल में कमल की तरह रहे। उन्होंने जल का अवशोषण तो किया, लेकिन उसे दिया कुछ नहीं। ऐसे ही अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने वाले इस देश का अवशोषण तो करते हैं किन्तु इसे देना कुछ नहीं चाहते। उनकी शिकायत है कि यह देश उनकी प्रतिभा का ठीक-ठीक उपयोग नहीं कर पाता, यहां काम करने की उपयुक्त सुविधाएं नहीं हैं। क्या इस शिकायत का यह भाव नहीं है कि ये अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने वाले लोग देश से बड़े हैं। देश उनका दास है, वे स्वदेश के नहीं? देश का उनके प्रति उत्तरदायित्व है, उनका देश के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं है?

प्रतिभा पलायन को रोकने का एक और उपाय यह है कि इन पलायन करने वालों की शिक्षा पर जितना खर्च हुआ है वह उनसे वसूल किया जाए। हर विद्यार्थी पर देश के बहुत अधिक संसाधन खर्च होते हैं। यदि देश को उस खर्च का प्रतिदान नहीं मिलता तो विद्यार्थी से उसे वसूल करना कतई अनुचित नहीं है।

शिक्षा और विकास का सीधा सम्बंध है। इसे ध्यान में रखकर हमें अपनी शिक्षा नीति तय करनी है। इस बात का बराबर ध्यान रखना चाहिए कि हम जिस शिक्षा-पद्धति को अपनाएं, उसकी जड़ें हमारी अपनी जमीन में हों, वह हमारी अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल हो, वह समाज में समरूपता की सृष्टि करे, उसके द्वारा नागरिक या ग्रामीण समाज में से किसी की भी उपेक्षा न हो, वह किसी भी वर्ग के प्रति अन्याय को बढ़ावा न दे, और वह हमारे व्यक्तित्व का समग्र विकास करे, हमें कार्यकुशल बनाए तथा हममें स्वदेशाभिमान उत्पन्न करे। ऐसी ही शिक्षा हमारे लिए सार्थक सिद्ध हो सकती है।

एच-50, पश्चिमी ज्योति नगर
गोकुलपुरी, दिल्ली-110094

शिक्षा के परिप्रेक्ष्य पत्र पर विचार

डा. अणिमा बोस
प्रो. एवं निदेशक
शांति प्रतिष्ठा केन्द्र, दिल्ली

किसी भी समाज में, विशेषकर हमारे समाज में जहां शिक्षा प्रणाली इतनी पुरानी पड़ गई है, जब औपचारिक और अनुशासनबद्ध शिक्षा दी जाती है, वहां शिक्षा की अवधारणा, सूझ-बूझ तथा उसके वास्तविक मूल्य के बारे में निर्णय करने का निश्चय ही उपयुक्त समय आ गया लगता है। आक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार, शिक्षा हमारे मस्तिष्क को प्रशिक्षित करती है और इसकी योग्यता को बढ़ाती है। इस प्रकार यह उन सीखने वालों के लिए एक निधि बन जाती है जो वास्तव में किसी देश के संसाधन, सशक्त मानव संसाधन हैं। इसलिए 1990 की रिपोर्ट में कहा गया है कि शिक्षा को केवल शिक्षण संस्थाओं की चारदीवारी के अन्दर या केवल पाठ्यपुस्तकों की पढ़ाई तक तथा बगैर कुछ सोचे-समझे उत्तीर्णांक प्राप्त करने के लिए परीक्षा कक्ष में ज्यों का त्यों फिर से प्रस्तुत करने तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए।

मैकाले के समय से ही शिक्षा को डिग्री प्राप्त करने का एक माध्यम समझा जाता रहा है और डिग्री को उस समय यहां तक कि इस समय भी, नौकरी पाने का एक माध्यम माना जाता रहा है।

शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे सीखने वाला जानकारी जमा करने के साथ-साथ हुनर भी सीखे,जो उसके रहन-सहन को ऊंचा उठाए, जो प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण से उसे सम्बद्ध करे, जीवन के विकास-मूल्यों में, प्रगति में तथा सर्जनात्मक अभिनवीकरण में उनकी आस्था को गहरा बनाए। इस प्रकार शिक्षा केवल विशेष सुविधा प्राप्त लोगों का ही एकाधिकार नहीं है बल्कि यह सक्षम बनाने वाला है। कोठारी आयोग तथा बाद में 1986 की नई शिक्षा नीति में केवल कुछ ही लोगों के लिए नहीं, बल्कि सभी के लिए शिक्षा पर जोर दिया गया है। इस प्रकार शिक्षा को विभागीय काम-काज के दायरे से बाहर निकालने की आवश्यकता है क्योंकि विभागीय कार्य-संचालन में इसका जीवन की वास्तविकता से तथा लोगों की आवश्यकता से सम्बंध नहीं होता, इसलिए इसे अनेक अस्तित्व और प्रगति से ठीक ढंग से समेकित किया जाना चाहिए। सीखने वाले के चरित्र का निर्माण करके तथा देश के अभीष्ट मूल्यों को लागू करके शिक्षा सर्जनात्मक रूप धारण कर लेती है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के वर्तमान युग में शिक्षा को लोकतांत्रिकीकरण में विशेष रुचि लेनी चाहिए तथा हिंसा को दूर करने के लिए विशेष जोर देना चाहिए क्योंकि इसके कारण जीवन के सभी आयाम दूषित हो गए हैं। हिंसा स्पष्ट और जटिल तथा सूक्ष्म और निष्क्रिय है। हमारे समाज की प्रगति और खुशहाली के प्रति जिस किसी भी व्यक्ति को चिन्ता होगी, वह अवश्य ही बहुत दुखित होगा कि देश की स्वतंत्रता के 43 वर्षों के बाद भी भारतीय समाज हर प्रकार की हिंसा की वृद्धि के कारण क्षीण और प्रदूषित होता जा रहा है। यह बड़ी तेजी से जीवन की पद्धति बनता जा रहा है और लोगों के मस्तिष्क पर हावी होता जा रहा है। यह आवश्यक है कि शिक्षाविद् लोग सर्जनात्मक तथा संरचनात्मक तरीके से विचार करते हुए ऐसी नीति तैयार करने पर पर्याप्त समय दें जिससे शिक्षा में ऐसा अभिनवीकरण आए कि वह 'जीवन के लिए शिक्षा', उस मानव के लिए शिक्षा बन सके जो किसी राष्ट्र के सबसे सबल संसाधन हैं।

1980 के दशक में इस बात पर काफी विचार-विमर्श हुआ कि 21वीं शताब्दी की शिक्षा की आवश्यकता को पूरी करने के लिए शिक्षा को उसके अनुरूप तैयार किया जाना चाहिए। समीक्षा समिति ने (1990 में) इस बात पर ध्यान दिलाया कि 21वीं शताब्दी के पहुंचने में केवल 10 वर्ष बाकी रह गए हैं और इसके साथ कई चुनौतियां भी आ रही हैं। भारत को प्रकृति ने विशाल सम्पदा दी है और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा महात्मा गांधी जैसे अनेक प्रख्यात विचारकों के अनुभव और प्रयोग उसे विरासत में मिले हैं जिनसे उसे इस चुनौती का सामना करने में भरपूर मदद मिलेगी। उनके अनुभव, विचार और विरासत उन लोगों को सही दिशा देंगे तथा चुनौतियों का सामना करने के लिए शक्ति प्रदान करेंगे जो उनसे मार्ग-निर्देश प्राप्त करना चाहेंगे।

समीक्षा समिति ने तीन प्रमुख लक्ष्यों पर बल दिया है जैसे—(अ) महिलाओं तथा पिछड़े वर्गों के लोगों के लिए समानता लाने हेतु शिक्षा एक प्रभावकारी माध्यम (ब) शिक्षा

का अधिकाधिक रोजगारोन्मुख रूप होना और (स) शिक्षा का समतावादी और धर्मनिरपेक्ष सामाजिक व्यवस्था प्रदान करने में सहायक बनना ताकि शिक्षा संस्थाएं जातिवाद, साम्प्रदायिकता और अलगाववादी विचारों को उकसाने वाले स्वरूप से क्रमशः मुक्त हो जाएं।

मेरा विश्वास है कि इनके साथ निरक्षरता-उन्मूलन के विशाल लक्ष्य को भी शामिल किया जाना चाहिए क्योंकि निरक्षरता लोगों पर, विशेषकर ग्रामीण लोगों पर बहुत अधिक असर डालती है। अनुमान है कि इस शताब्दी के अंत तक भारत में निरक्षर लोगों की संख्या लगभग 50 करोड़ तक हो जाएगी। इस प्रकार प्रौढ़ शिक्षा को नई शिक्षा नीति का महत्वपूर्ण लक्ष्य होना चाहिए। सभी वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिकी माध्यमों के जमाव के बावजूद यह मुद्रित माध्यम का युग है। मुद्रित शब्द अब भी साक्षरता का बुनियादी माध्यम है। भारत की ग्रामीण आबादी (ऐसे लोग जो अभी तक साक्षरता से वंचित हैं) तभी आर्थिक विकास का लाभ उठाने में समर्थ हो पाएगी, प्रगति में प्रभावी साझीदार बन पाएगी और वर्तमान समय में विज्ञान और टेक्नालॉजी की विशाल प्रगति की संभावनाओं को समझ पाएगी और अपने रहन-सहन में प्रभावी तथा लाभकारी ढंग से परिवर्तन ला पाएगी।

इसी प्रकार सभी को प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने के बारे में भी विचार करना होगा। 6-14 वर्ष की आयु वर्ग के सभी बच्चों को निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा देने की संवैधानिक गारंटी के बावजूद ग्रामीण क्षेत्रों में पर्याप्त स्कूल न होने की वजह से सभी बच्चों को पढ़ाना सम्भव नहीं है। यदि सभी बच्चों के अभिभावक अपने बच्चों को विद्यालय भेजने के लिए तैयार हो जाएं तो भी ग्रामीण क्षेत्रों में न तो इतने अधिक स्कूल हैं और न उनमें इतनी सुविधाएं उपलब्ध हैं कि बच्चों को सार्थक शिक्षा उपलब्ध कराई जा सकेगी। फिर भी मैं कहता हूं कि शिक्षा उनका संवैधानिक अधिकार है, मानव अधिकार है। हमारे देश में सभी को प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने की सार्थक प्रक्रिया के लिए इमारतें (चाहे वह छप्पर का कुटीर ही क्यों न हो), श्याम पट और निष्ठावान अध्यापक बहुत आवश्यक हैं। यह बहुत दुःखद बात है कि ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ स्कूलों में ब्लैक बोर्ड (श्याम पट) तक नहीं हैं, वहां केवल अध्यापक ही हैं। इस वर्ष 19 नवम्बर 1990 को शांति, निरस्त्रीकरण और विकास के लिए वर्ष 1989 का इंदिरा गांधी पुरस्कार प्राप्त करते हुए जेम्स पी. ग्रांट ने कहा, "प्राचीनकाल से ही हम बच्चों को भविष्य की कुंजी के रूप में मानते रहे हैं" इस बात को ध्यान में रखते हुए इस शताब्दी की समाप्ति से पहले ही प्राथमिक शिक्षा पाने के आयु-वर्ग वाले कम से कम 80% बच्चों को बुनियादी तथा प्रारम्भिक शिक्षा अवश्य उलपब्ध करा दी जानी चाहिए। इस समय गरीबी और घर की मजबूरियां बच्चों को स्कूल में उपस्थित रहने में बाधा डालती हैं। छोटी उम्र में ही पढ़ाई बीच में छूट जाने के कारण माध्यमिक या और ऊंची शिक्षा पाने का उनका स्वप्न अधूरा ही रह जाता है। इसलिए गम्भीरता से इस बात के प्रयास किए जाने चाहिए कि निष्ठावान अध्यापकों की भर्ती की जाए और प्रत्येक बच्चे के घर से एक किलोमीटर दायरे के अन्दर स्कूलों की व्यवस्था की जाए ताकि सभी बच्चों को बुनियादी शिक्षा उपलब्ध कराने की बुनियादी जरूरत को पूरा किया जा सके। इसके साथ-साथ परिवार नियोजन पर विशेष जोर दिया जाए ताकि जनसंख्या विस्फोट के कारण इन सभी गम्भीर प्रयासों का असर समाप्त न हो जाए। देश में सभी को प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने का स्वप्न तभी साकार हो पाएगा।

हमारे देश में जनसंख्या का एक प्रमुख वर्ग इस बीसवीं शताब्दी के प्रथम कुछ दशकों के दौरान भी औपचारिक शिक्षा से वंचित रहा और वह आज भी शिक्षा के मामले में वंचित रहा है। वह वर्ग है—महिलाएं। देश की आजादी के बाद संविधान ने उन्हें शिक्षा का अधिकार प्रदान किया परन्तु सामाजिक रवैये, पारिवारिक दबाव और सरकार तथा समाज दोनों की ओर से सामान्य असहानुभूति महिलाओं की प्रारम्भिक, माध्यमिक, उच्च तथा व्यावसायिक सभी स्तरों की शिक्षा में बाधक बनते रहे हैं। महिलाओं तथा पुरुषों के बीच समानता लाने के लिए शिक्षा को प्रभावी माध्यम बनाने के मामले में कोरे शब्दों मात्र से आश्वासन दिए जाते रहे परन्तु व्यावहारिक रूप से महिलाओं की शिक्षा में कई कारणों से रुकावटें आती रहीं, इनमें से प्रमुख है—सामाजिक रवैया।

भारत के प्रधान न्यायाधीश न्यायमूर्ति श्री रंगनाथ मिश्र ने इस वर्ष नवम्बर में एक जनसभा में अपने भाषण में कहा था कि लिंग के आधार पर समानता की अवधारणा मानव-प्रक्रिया के विपरीत है क्योंकि ईश्वर ने पुरुष और स्त्री को बराबर पैदा नहीं किया है। भारत के संविधान की धारा 15 का आधार ही समानता का अधिकार है लेकिन इसके बावजूद पुरुष के रवैये का दबदबा बना हुआ है। हालांकि धारा 15 में किसी भी आधार पर भेदभाव का निषेध है; इतना ही नहीं, वास्तव में इसमें महिलाओं और बच्चों के पक्ष में उसका झुकाव है। अब वह समय आ गया है जब सरकार और भारत के लोग शिक्षा को मानव अधिकार के रूप में मान्यता दें और महिलाओं की शिक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता दें। तभी हम ऐसे प्रबुद्ध समाज की ओर अग्रसर हो सकते हैं जो उर्ध्व तथा क्षैतिज विकास के लिए महिलाओं की शिक्षा को सोद्देश्यपूर्ण बनाने और घर तथा

समाज में समानता को वास्तविक रूप देने के लिए तत्पर हैं। मैं इस बात की जोरदार सिफारिश करता हूं कि शिक्षा में माध्यमिक तथा उच्चतर दोनों ही शिक्षा स्तरों पर महिलाओं के अध्ययन का अनिवार्य पाठ्यक्रम शामिल किया जाए। यहां यह कहना आवश्यक नहीं है कि महिलाओं की शिक्षा को केवल बराबरी का ही नहीं बल्कि अवसरों के आधार पर और अधिक महत्व दिया जाए जिनमें उच्चस्तरीय अध्यापन तथा कार्य और रोजगारोन्मुख पाठ्यक्रम शामिल हों। इन्हें शिक्षा के विषय तथा प्रक्रिया से समेकित किए जाने की आवश्यकता है।

यहां कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि पिछले दशक के दौरान शिक्षा में सुधार की बात को बार-बार दुहराने से ऐसी कुछ भावनाएं पैदा हुई हैं जो यह मानते हैं कि शिक्षा मानव संसाधनों के विकास में एक निवेश है। यहां मैं उल्लेख करना चाहूंगा कि नई शिक्षा नीति के अंतर्गत 261 नवोदय विद्यालयों के खोलने का कार्यक्रम है जिनका उद्देश्य भारत में 600,000 से अधिक उपेक्षित गांवों के स्कूलों में अच्छी शिक्षा उपलब्ध कराना है, सामाजिक और अध्यापकीय विचारों में इस उद्देश्य के लिए प्रयास करना है; सीखने वाले के स्वतंत्र व्यक्तित्व के चहुंमुखी विकास तथा उद्देश्य की तलाश के लिए प्रयास करना है। पाठ्यक्रम और शिक्षण का माध्यम अब बहुत महत्वपूर्ण हो गया है। पाठ्यक्रम के क्षेत्र में मानव संसाधन विकास तथा भविष्य के लिए निवेश के माध्यम के रूप में शिक्षा की अवधारणा अनिवार्य बन गई है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली जो वास्तव में, अध्यापक जानकारी पर आधारित शिक्षा है और इसमें सीखने वाले के परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखे बगैर निष्क्रिय प्रयास किया जाता है, इसके स्थान पर शिक्षा की सहभागिता प्रणाली अपनाई जानी चाहिए। इसलिए पाठ्यक्रम में परिवर्तन इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि वह सीखने वाले के लिए और अधिक ग्राह्य हो और उनके जीवन में उसका अधिक उपयोग हो। इसके अलावा कक्षा के अनुभवों को सीखने वाले के व्यापक अनुभवों के साथ सम्मिलित किया जाना चाहिए। ऐतिहासिक कारणों से, सभी शिक्षाएं सभी स्तरों पर बाहर की दुनिया से अलग-थलग पड़ी रहीं। इस स्थिति को बदलने के लिए अभिनव और रचनात्मक दृष्टिकोण की तत्काल आवश्यकता है।

मानव इतिहास में ऐसा समय कभी नहीं आया, जब शांति को समझने तथा अहिंसक माध्यमों के इस्तेमाल की इतनी अधिक आवश्यकता महसूस की गई हो जितनी कि इस समय महसूस की जा रही है। भारत की सभी जातियों, क्षेत्रों तथा सभी वर्गों को पास लाने की अत्यधिक आवश्यकता है ताकि संघर्ष और हिंसा से जूझते रहने की बजाए उनकी सर्जनात्मक ऊर्जा को सहयोग की दिशा में प्रवाहित किया जा सके।

शांति सम्बंधी अध्ययनों को शिक्षा के सभी स्तरों पर पाठ्यक्रम का हिस्सा बनना चाहिए। अभी तक हिंसा के साधनों को किसी भी प्रकार के संघर्ष के समाधान के लिए अनिवार्य माना जाता रहा है। अब सीखने वालों को अहिंसा के साधनों का अध्ययन करने तथा समझने के काम में जुटा दिया जाना चाहिए, उनके आयाम और परिप्रेक्ष्य न केवल अन्य 'तरीका' है बल्कि शायद किसी भी सभ्य समाज में टकराव और असहमति का समाधान करने के लिए एकमात्र सक्षम मार्ग है। शांति के अध्ययन का मूल तत्व युद्ध न होने को ही शांति मान लेना नहीं है, अथवा युद्धों के बीच अधिक अंतराल हो जाना ही शांति नहीं है, बल्कि हिंसा के सूक्ष्म रूपों को भी दूर करना है; सर्जनात्मक चिंतन की कमी के कारण प्राचीनकाल से ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जो हिंसा की प्रवृत्ति जारी है, उसको दूर करना शांति है।

इस वर्ष साहित्य के लिए नोबेल पुरस्कार विजेता, मैक्सिको के आक्टेवियो पाज़ ने भविष्यवाणी की है, "जिन लोगों ने हमें गांधी दिया, जिन्होंने गणित में शून्य का आविष्कार किया और राजनीति में हिंसा का, वे विकास तथा सामाजिक न्याय का कोई उचित रास्ता ढूढ़ लेने में सफल रहेंगे।" इसके अलावा वर्तमान स्थिति से छेड़छाड़ करने से कुछ भी नहीं होने वाला है जैसा कि डा. डी. एस. कोठारी ने 1964-65 में शिक्षा आयोग की रिपोर्ट की भूमिका में कहा है। इसके लिए हमें यह समझना होगा कि भारतीय शिक्षा में आमूल पुनर्निर्माण या लगभग क्रांति की आवश्यकता है।

अनुवाद : रामबिहारी विश्वकर्मा

अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण हेतु बुनियादी नई शिक्षा नीति

ईश्वरलाल पं. वैश्य

आज सारा देश, जिसमें सरकारी और गैर-सरकारी अर्थशास्त्री भी आ जाते हैं, हमारी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की बिगड़ती हुई स्थिति के प्रति चिन्तित हैं। मुद्रा स्फीति इस कदर बढ़ रही है कि रिजर्व-बैंक भी उससे घबराने लगा है और विदेशी ऋण भी इस कदर बढ़ गया है कि विश्व-बैंक भी उसके लिए हमें आगाह करने लगा है। गत वर्ष तो विश्व-बैंक ने भारतीय रुपये का अवमूल्यन करने की सलाह देकर हमारे सामान्य नागरिक के मन में भी भय पैदा कर दिया था।

ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण हेतु एक उपयुक्त रणनीति निर्धारित करना एवं उसके सफल कार्यान्वयन के तौर-तरीकों पर फिर से विचार करना हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक हो गया है। ऐसे समय में एक ऐसी शिक्षा नीति जो राष्ट्रीय आर्थिक प्रयासों की रूपरेखा के साथ गूंथी हुई हो, की चर्चा करना अप्रासंगिक नहीं होगा। भारत सरकार के मानव-संसाधन विकास मंत्रालय के अन्तर्गत नव-गठित राष्ट्रीय शिक्षा-नीति समीक्षा समिति जिसके अध्यक्ष आचार्य राममूर्ति हैं, द्वारा हाल ही में प्रसारित चर्चा-पत्र में भी कहा गया है—

''भारत के बहुत से लोगों के लिए अस्तित्व की लड़ाई शैक्षिक आवश्यकताओं से कहीं अधिक प्राथमिकता रखती है। इसलिए शिक्षा और उसके नियोजन को व्यापक सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक संदर्भ के साथ जीवन्त रूप से जोड़ना होगा। विशिष्ट रूप से शिक्षा को विकास के गतिशील मुद्दों के साथ जोड़ा जाना चाहिए।''

दूसरे शब्दों में हमें दो प्रमुख राष्ट्रीय कार्यक्रमों—अर्थव्यवस्था एवं शिक्षा—के बीच अन्यायन्य पोषक सम्बन्ध सुनिश्चित करना होगा ताकि दोनों आपस में एक-दूसरे का समर्थन एवं सहयोग पा सकें—एक-दूसरे से आपस में जीवन पा सकें।

आर्थिक रूप रेखा उभारने के लिए शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि वह उसे प्रोत्साहन, अवलम्बन तथा आधार प्रदान कर सके। उपरोक्त चर्चा-पत्र में भी कहा गया है—''लोगों को काम के लिए समर्थ बनाने के उद्देश्य से शिक्षा के हर स्तर पर सभी विद्यार्थियों के लिए सामाजिक दृष्टि से उपयोगी व उत्पादन कार्य को सीखने, उनमें सूझ-बूझ और समस्या निदान का कौशल विकसित करने और उनकी सृजनात्मकता बढ़ाने का प्रभावशाली माध्यम बनाना होगा।''

अर्थात शिक्षा ऐसी नहीं होनी चाहिए कि वह निरर्थक या स्वरूप तथा अप्रासंगिक लगने लगे, जैसा कि आज हो रहा है। दूसरी ओर ''अर्थव्यवस्था को स्वेच्छा से विनियोग कर शैक्षणिक प्रयासों का पोषण करना चाहिए, क्योंकि शिक्षा से विकसित होने वाला उच्च ज्ञान आर्थिक उपयोगिता का होगा। इसके लिए रोजगार या नियोजन एजेंसियों को अपनी-अपनी परीक्षण-प्रणालियों का निर्धारण करने की छूट देनी होगी ताकि शैक्षिक उपाधियों का नौकरियों से सम्बंध तोड़ा जा सके।''

इस प्रकार आर्थिक औचित्य प्राप्त कर शिक्षा अपनी वैधता प्राप्त करेगी और वह विकास के लिए शिक्षा बन पाएगी। रूस, चीन, क्यूबा आदि में यही हुआ है और हो रहा है। भारत में भी यही होना चाहिए। हमारे यहां इस नई प्रणाली को दाखिल करने के लिए हमारी पद्धति लोकतांत्रिक होगी।

शिक्षा की एक राष्ट्रीय प्रणाली की यह अपेक्षा पूरी हो सकती है, बशर्ते कि प्राथमिक-स्तर से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक उसे बुनियादी-शिक्षा के पुनरुत्थान पर आधारित किया जाए। हमें बुनियादी-शिक्षा की कुछ अपरिहार्य सराहनीय विशेषताओं को समाहित करते हुए शिक्षा की एक राष्ट्रीय योजना का विकास करना चाहिए। 1986 की शिक्षा नीति की प्रस्तावना में लिखा गया है—''इतिहास में ऐसे क्षण आते हैं। जब युगों से चली आई परिपाटी को नई दिशा देनी पड़ती है।'' बड़ी महत्वपूर्ण है यह बात। हमारे लिए भी अब वह क्षण आ पहुंचा है। जब मैकाले द्वारा निर्धारित शिक्षा-नीति में इधर-उधर कुछ पैबन्द लगाते रहने की बजाए हम आमूल परिवर्तन की दिशा में सोचने लगें।

आचार्य राममूर्ति की राय में हमारी आज की बुनियादी चिंताएं निम्न हैं—

1. नागरिकों का 'काम का अधिकार' अर्थात् बेरोजगारी-निवारण।

2. राष्ट्र की एकता एवं अखंडता पर मंडराने वाले गंभीर खतरे, और
3. भारतीय नागरिकों के दिलों में से सूखती जा रही मानवता की भावना।

कहना नहीं होगा कि इन सबके मूल में वास्तविक कारण आर्थिक है और हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी आर्थिक प्रणाली शैक्षणिक शून्यता के वातावरण में स्वयं के भरोसे नहीं टिक सकती है। आर्थिक संगठनों की अवस्थापना की पहुंच प्रभावपूर्ण, गतिशील तथा राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली द्वारा शिक्षितों तक होनी चाहिए। इसके लिए एकमात्र उपाय बुनियादी शिक्षा है। भले ही उसका रूप नया हो, नाम नया हो और वह परम्परागत बुनियादी तालमेल की प्रणालियों से भिन्न हो।

हमारे देश के तथा विदेशों के बहुत सारे विचारक जो भारत में शैक्षणिक स्थिति की वास्तविकताओं से परिचित हैं, निम्न दो बातों से अवश्य ही सहमत होंगे। हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली में कहीं न कहीं कोई मौलिक त्रुटि है। यहां शिक्षा को जिस तरह से नियोजित तथा संचालित किया जाता है, उसके परिणामस्वरूप देश के लोगों की आवश्यक शैक्षणिक लक्ष्यों को पूरा करने की दृष्टि से यह बहुत हद तक अयोग्य बन गई है।

मूल रूप से गांधीजी द्वारा परिकल्पित तथा जाकिर हुसैन समिति द्वारा प्रतिपादित बुनियादी शिक्षा के अंतर्गत कुछ ठोस अध्यापन विज्ञान सम्बंधी सिद्धान्तों को समाहित किया गया है, जिनकी मान्यता एवं स्वीकृति सार्वदेशिक है। लेकिन हमारे देश में इसे जिस प्रकार क्रियान्वित किया गया, उससे पहले तो उसका उपहास हुआ और फिर तो यह एक त्रासदी ही बन गई। बहुधा एक प्रकार की अपरिहार्य जैसी स्वीकारोक्ति दी जाती है कि बुनियादी शिक्षा को चलाने में उसके साथ न्याय नहीं किया गया। कभी-कभी ऐसे प्रस्ताव भी आते रहे कि बुनियादी शिक्षा को वह आधारभूत ढांचा उपलब्ध करवाया जाना चाहिए। जिस पर राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का भवन खड़ा किया जा सके और वस्तुतः जिसकी हमें तलाश रही है। लेकिन मामला यहीं आकर अब तक समाप्त हो जाता रहा है और बात प्रस्तावों से आगे नहीं बढ़ती। यह हर्ष का विषय है कि सुप्रसिद्ध गांधीवादी शिक्षा-शास्त्री आचार्य राममूर्ति को इस बार हमारी राष्ट्रीय शिक्षा-नीति की समीक्षा करने और नए सुझाव देने का काम सौंपा गया है।

वस्तुतः बुनियादी शिक्षा का नाम लिए बगैर भी शिक्षा आयोग ने बहुत बाद में कार्य अनुभव की बात पर जोर दिया था। एक राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली का ढांचा देने के लिए बुनियादी शिक्षा की संभावनाओं का विश्लेषण करना लाभप्रद हो सकता है। इसके लिए तीन काम करने जरूरी हैं :

1. परम्परागत बुनियादी शिक्षा पद्धति में पाए जाने वाले दोषों, खामियों, कमजोरियों एवं अयोग्यताओं का निदान करना। यह वैज्ञानिक और सोद्देश्य होना चाहिए।

2. देश की बदलती आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु बुनियादी शिक्षा को किस प्रकार अपनाया जाए। इसके व्यवहारिक स्वरूप का निर्धारण करना।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 के अनुसार "विषय वस्तु एवं शिक्षण प्रक्रिया का भी पुनर्गठन किया जाना था। पाठ्यक्रमों में सांस्कृतिक विषय वस्तु जोड़ कर उन्हें समृद्ध करना था, मूल शिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाना था, सभी क्षेत्रों में जन-संचार एवं शैक्षिक तकनीकी का उपयोग होना था, सभी स्तरों पर कार्यानुभव को शिक्षा का अभिन्न अंग बनाया जाना था, पर्यावरण-चेतना को प्रोत्साहन देना था, जिज्ञासा की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन करने के लिए विज्ञान और गणित के शिक्षण को आगे बढ़ाना था, शास्त्रीय एवं गैर-शास्त्रीय गुणों का मूल्यांकन करने के लिए वर्तमान परीक्षा प्रणाली को अनवरत समग्र आंतरिक मूल्यांकन प्रणाली के रूप में ढाला जाना था एवं भाषाओं का विकास 1968 की नीति के अनुसार होना था।"

इसके लिए विषय वस्तुओं, निर्धारित पाठ्यक्रमों, अध्यापन विज्ञान सम्बंधी इस्तेमाल किए जाने वाले संगठनात्मक ढांचे को क्रियान्वयन रूप मे विस्तार से बदलना होगा तथा परम्परागत बुनियादी शिक्षा पद्धति का कायाकल्प करते समय इसकी मूल भूलों, कमजोरियों और आयोग्यताओं को समाप्त कर उनकी जगह अन्य पद्धतियों को अच्छी और पुष्ट बातों को सम्मिलित करना होगा।

चुनिन्दा केन्द्रों में एक मार्गदर्शी आधार पर योजना की परीक्षा करते रहना और उसके परिणामों से सम्बंधित जानकारी को वापिस शिक्षा प्रणाली के मूल-सूत्र में और अधिक सुधार और शुद्धि लाने के लिए काम में लाना। ऐसा करने पर ही हम समाज के लिए शिक्षा की एक कार्य-योग्य प्रणाली विकसित करने में सफल हो सकते हैं।

हमारे पास पहला काम करने के लिए पर्याप्त सामग्री है। दूसरा काम जो निदान के पश्चात् उपचार करने से सम्बंधित है, पहले काम के पूरा होने पर किया जा सकता है। शिक्षा-नीति की समीक्षा के रूप में हम अभी पहला काम कर रहे हैं। दूसरा काम करने के लिए विभिन्न ज्ञान-शाखाओं (डिसिपलीन्स) से चुने गए ऐसे प्रबुद्ध एवं समर्पित लोगों के दल के संयुक्त प्रयासों

की आवश्यकता होगी, जो विभिन्न प्रकार के ऐसे विचारों तथा कार्यों के विभिन्न रूपों का एक संश्लेषण तैयार करने के कठिन कार्य को अंजाम देने के योग्य हों, और यह संश्लेषण नई शिक्षा-नीति का मुख्य निकाय होगा। मार्गदर्शी आधार पर इन युक्तियों तथा विचारों को क्रियान्वित करने से सम्बंधित तीसरा कदम अंत में उठाया जाएगा।

क्रियान्वयन का कार्य कुछ स्वैच्छिक अभिकरण सर्वोत्तम ढंग से हाथ में ले सकते हैं, जिनका न सिर्फ इस शिक्षा प्रणाली में विश्वास हो अपितु इसे प्रमुख पद्धतियों की शुद्धता के साथ प्रयोग कार्य समाप्त करने के लिए उनके पास कुछ अनुभव और संशोधन वृत्ति भी हो। यदि प्रयोग सफल होता है, तो इसके व्यवहार का क्षेत्र-विस्तार करने के बारे में अभिकरण के पास इच्छा और साधन होने चाहिए और असफलता की स्थिति में बदनामी और हानि सहन करने योग्य नैतिक और आर्थिक शक्ति भी होनी चाहिए। सफलता मिले अथवा असफलता लेकिन ऐसा अनुभव मूल्यवान होगा।

अभी तक की बुनियादी-शिक्षा की असफलता के कारणों को दो भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम भाग में प्रणाली में ही उसकी कुछ अंतःपूर्ण मर्यादाएं, कमजोरियां तथा दोष आते हैं। उन्हें सुधारा जा सकता था और कुछ स्थानों में वास्तव में उनमें से कुछ को सुधारा भी गया था। दूसरे भाग में योजना के दोषपूर्ण क्रियान्वयन से सम्बन्धित कारण आते हैं, जिनके परिणामस्वरूप प्रणाली ही बदनाम हो गई, जो पूर्णतः न्यायसंगत नहीं था।

जिस तरह से बुनियादी-शिक्षा का सूत्रपात किया गया—उसको देखकर आरम्भ से ही लगता था कि मानो यह शिक्षा पद्धति गरीब तथा सुविधाहीन लोगों के लिए बनी है और देश के तीसरे-चौथे दर्जे के नागरिकों के लिए ही है। राष्ट्रीय शिक्षा की कोई व्यापक प्रणाली इस प्रकार के दुर्भाग्यपूर्ण कलंक के साथ प्रारम्भ नहीं की जा सकती।

बुनियादी शिक्षा क्षेत्र में संलग्न लोग इन निहितार्थों से पूर्णतः अनभिज्ञ नहीं थे। सन् 1953 में सेवाग्राम में उत्तर बुनियादी शिक्षा पर एक सम्मेलन हुआ था। लेकिन इस सम्मेलन से कोई भी ठोस कार्रवाई प्रतिफलित नहीं हुई। समस्या ऐसी असाध्य नहीं थी जितना उसे बनाया गया था। कृषि में बुनियादी शिक्षा पाठ्यक्रमों की एक ऐसी मजबूत नींव डाली जा चुकी थी जिससे अपने-आप स्नातक स्तर की कक्षाओं तक सिद्धान्त और व्यवहार दोनों को काफी उच्च-स्तरों तक पहुंचाया जा सकता है। करना यह था कि कृषि के इर्द-गिर्द अन्य सह-सम्बंधित पाठ्यक्रमों का ताना-बाना भी बुना जाता ताकि एक समग्र पाठ्यक्रम प्रतिफलित हो सके, जिसमें बुनियादी शिक्षा का आवश्यक लक्षण अर्थात 'करते हुए सीखना' मौजूद हो।

पाठशाला स्तर पर बुनियादी शिक्षा पाठ्यक्रम में सामान्य विज्ञान के विषयों को समुचित रूप से क्रियान्वित करने पर वनस्पतिशास्त्र, जीवन-विज्ञान, पशु-पालन, भू-विज्ञान आदि जैसे प्राकृतिक विज्ञानों में विशेषता पाने के लिए आगे सुनहरा अवसर मिलता है। सामान्य विज्ञान, जिसे विगत में 'प्रकृति विज्ञान' के रूप में जाना जाता था, पर जोर देने में कुछ खूबियां हैं। लेकिन दुर्भाग्य यह रहा कि सरकार से सम्बद्ध कुछ विशेषज्ञ-संगठनों ने बुनियादी-शिक्षा को प्रोत्साहन देने में प्रारम्भ से ही एक प्रकार का उदासीन रवैया अख्तियार किया। ये लोग देशी उपकरणों एवं यंत्रों को विकसित करने के किसी भी प्रयास को हास्यास्पद बना देते थे। सच तो यह है कि बुनियादी शिक्षा के प्रति हमारी नौकरशाही की कभी-कभार मुंहदेखी करने के अतिरिक्त कोई आस्था ही नहीं रही और नीति के क्रियान्वयन के स्तर पर वह सामान्यतः इसके विरोध में रही। उसका ऐसा विरोध योजना के लिए काफी हानिकारक सिद्ध हुआ।

दूसरे 'लक्ष्य प्राप्ति' के आवेश ने बुनियादी शिक्षा को कहीं अधिक नुकसान पहुंचाया। वस्तुतः सिर्फ प्रशासनिक आदेशों से समस्त परम्परागत विद्यालयों को रातोंरात बुनियादी-शिक्षा के विद्यालयों में बदल दिया गया। उन्हें कभी यह सूझा ही नहीं कि ये तथाकथित नामधारी बुनियादी विद्यालय अपने काम के लिए ठीक तरह से सन्नद्ध भी नहीं किए गए थे। उनके पास न तो प्रशिक्षित अध्यापक थे और न समुचित अध्यापन सम्बंधी सुविधाएं ही थीं।

परम्परागत विद्यालय को बुनियादी विद्यालयों में परिवर्तित करने के असंभव लक्ष्य निर्धारित किए गए। यह प्रक्रिया केवल नाम लेने भर के लिए पूरी हुई। इससे बुनियादी शिक्षा प्रणाली का जितना नुकसान एवं अपमान हुआ उतना अन्य किसी घटना से नहीं हुआ।

पुरानी परम्पराओं से कट कर चलने वाले किसी आन्दोलन के लिए जिसमें नवीन संस्थापक ढांचा खड़ा करना, नवीन उपकरणों को लगाना, नए कार्यकर्ता नियुक्त करना जरूरी हो और जहां नवीनताएं अपेक्षित और आवश्यक हों, वहां एक उच्चकोटि के नेतृत्व की जरूरत होती है। देश में बुनियादी शिक्षा के लिए यह नेतृत्व ऐसे लोगों के हाथों में दे दिया गया, जिनको न तो ऐसा कोई अनुभव था और न ही ऐसे चुनौतीपूर्ण कार्य के साथ न्याय करने के योग्य स्वभाव था।

अब नई परिस्थितियों में बुनियादी शिक्षा प्रणाली अधिक महत्वपूर्ण हो गई है। चर्चा पत्र में 'कुछ तौर-तरीके' सुझाते हुए कहा गया है—

"कार्यपीठ (वर्क बैंच) एवं अभ्यास शाला (प्रैक्टिस स्कूल) का अर्थ उन कार्य परिस्थितियों से है जिनका चयन उत्पादन इकाइयों अथवा सरकारी विकास/समाज कल्याण विभागों में से विद्यार्थियों को व्यवसायिक प्रशिक्षण और प्रत्यक्ष अनुभव देने के उद्देश्य से किया जाएगा। इस व्यवस्था में विद्यार्थियों को व्यवसायिक अनुभव प्राप्त करने के लिए अधिक कारगर शैक्षिक रणनीति उपलब्ध हो जाती है, जिसका प्रबन्ध कक्षा की चारदीवारियों के अन्दर किया जा सकता है। यहां प्रशिक्षण व्यवहारिक समस्याओं के समाधान और काम के दौरान कौशल-विकास के सिद्धान्तों पर आधारित होगा जबकि 'अभ्यास-शाला' संगठित क्षेत्र में ज्यादा बड़ी इकाइयों में संस्थागत व्यवस्था है, वहीं 'कार्यपीठ' वह व्यवस्था है, जिसे स्कूल के पड़ौस में असंगठित क्षेत्र में भी अपेक्षाकृत छोटी इकाइयों में से खोजकर स्कूल के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है। दोनों हालात में स्कूल को कुशल कार्मियों या उपकरणों पर कोई निवेश नहीं करना होगा, क्योंकि ये संसाधन आपस में तय की गई फीस या उसके बिना ही 'काम की दुनिया' में उपलब्ध हो जाएंगे।

इस प्रकार प्रस्तावित नई शिक्षा नीति बुनियादी-शिक्षा का ही परिवर्धित रूप है। ऐसी स्थिति में उसको पुनर्जीवित करने के नए प्रयास के मुद्दों पर विचार करने हेतु हम कुछ संकेत ही कर सकते हैं, यथा—(1) नई शिक्षा-नीति देश की सामाजिकार्थिक पुनर्रचना की सम्पूर्ण रणनीति का ही एक अंग बने। (2) पाठ्यक्रम व्यापक होना चाहिए जो पूर्व-प्राथमिक से लेकर स्नातकोत्तर कक्षाओं तक के लिए हो। (3) लक्ष्य-अभिमुख दोषपूर्ण क्रियान्वयन के जल्दबाजी वाले तरीकों को छोड़ना चाहिए। लक्ष्यों का निर्धारण वास्तविकता के आधार पर करना चाहिए, ऊपर के आदेशों के आधार पर नहीं। (4) स्थानीय तौर पर चुनिन्दा संभागों में सुलभ कच्चे माल, सुविधाओं, संसाधनों तथा संस्था-सम्बन्धी अर्थव्यवस्था और उसी भांति तकनीकी जानकारियों के बारे में एक सर्वेक्षण करवाया जाना चाहिए। संभाग की आर्थिक पुनर्निर्माण योजना के साथ विद्यालय को समग्रित करने के लिए उसके पास उपयुक्त पाठ्यक्रम तथा उसके लिए अपनाई जाने वाली सुविधाएं उपलब्ध होनी चाहिए। (5) नई शैक्षणिक पद्धति को बनाते समय किसी संभाग के लिए तैयार किए गए आर्थिक कार्यक्रमों को विचारार्थ लिया जाना चाहिए। ऐसी शैक्षणिक प्रणाली से प्राप्त शिक्षित लोगों को आर्थिक कार्यक्रमों में भेजा जाना चाहिए, जो पुनः इस शैक्षणिक प्रणाली को बनाए रखेंगे। इस तरह सार्वजनिक विद्यालयों में पाठ्यक्रम और प्रयोगिक-अभ्यास, क्षेत्र की आर्थिक और उत्पादक गतिविधियों से सम्बद्ध होंगे। चलने वाली शैक्षणिक प्रणाली के साथ मानव-शक्ति आयोजन को भी जोड़ा जा सकेगा।

इससे महत्वपूर्ण लाभ यह होगा कि तीन प्रमुख अंगों के बीच निकटता एक क्रमबद्ध अन्तर्योग बन जाएगी। ये तीन अंग हैं—(1) स्थानीय संसाधन, कच्चा माल और संस्था सम्बन्धी ढांचा (2) इन संसाधनों के उपयोग पर आधारित एक आर्थिक योजना जिसमें मानव-शक्ति की सुलभता एक महत्वपूर्ण उपयोगी कारक होगा तथा (3) मानव-शक्ति को इस रूप में ढालने के लिए एक शैक्षणिक पद्धति का विकास, जहां इस प्रणाली को बनाए रखने के लिए भी यह उपयोगी होगा।

ऐसी बुनियादी शिक्षा की एक जीव्य प्रणाली निर्धारित करने का काम चुनौती पूर्ण है जिसमें इस पद्धति को एक श्रम-सघन रणनीति को काम में लाने तथा ग्राम-आधारित लघु-स्तरीय आदर्श वृद्धि के सिद्धान्त पर एक जीव्य आर्थिक योजना के साथ निकटता से गूंथने की बातें आती हैं। इस चुनौती का सामना राष्ट्र के सर्वाधिक मेधावी लोगों को लेकर करना होगा और विभिन्न राष्ट्रीय संगठनों को अपना सम्पूर्ण योगदान उसमें देना होगा। तभी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए वह उपयोगी सिद्ध हो सकेगी जो वांछनीय ही नहीं आवश्यक भी है। इतना ही नहीं भविष्य में भी राष्ट्र की आर्थिक धुरी को स्वावलम्बी बनाए रखने के लिए उपयोगी होगी।

अन्ततः यह चेतावनी देना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि नीति एवं योजना चाहे जितनी अच्छी हों, लेकिन यदि क्रियान्वयन के स्तर पर भी वैसी ही निष्ठावान मशीनरी तैयार नहीं की जा सकी तो सफलता संदिग्ध हो जाएगी।

82, कसारवाड़ा,
बांसवाड़ा (राज.)
पिन-327001

नई शिक्षा नीति की समीक्षा से मैकालेवाद में बदलाव की संभावना

डा. जगबीर कौशिक

स्वतंत्रता प्राप्ति के 43 वर्ष के बाद आज भी भारतीय युवा मानस अपने वर्तमान और भविष्य के प्रति आश्वस्त नहीं है। सन् 1967 में केन्द्रीय सरकार ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति निर्धारित कर सम्पूर्ण देश में समान शिक्षा पद्धति लागू की। सन् 1986 में देशव्यापी वाद-विवादों, परिसम्वादों और सम्मेलनों में गहन चिन्तन-विश्लेषण के उपरान्त प्रबुद्ध शिक्षाविदों, शिक्षण संस्थानों और स्वायत्त संस्थाओं के परामर्श पर संसद द्वारा स्वीकृति पाकर नई शिक्षा नीति का सूत्रपात हुआ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि नई शिक्षा नीति पहले की शिक्षा नीतियों की अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण और उपयोगी है तथापि इसके अन्तर्गत भी जो शिक्षा पिछले 4-5 वर्षों से दी जा रही है वह युवा व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास करने में समर्थ नहीं है। आज उच्च शिक्षा का उद्देश्य अपने विषय की कुछ पाठ्यपुस्तकों को पढ़कर मात्र डिग्री हासिल करना है।

नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति की समीक्षा के लिए बनाई गई आचार्य राममूर्ति समिति ने बहस के लिए जारी अपने परिप्रेक्ष्य पत्र में उन तीन बुनियादी चिंताओं का उल्लेख किया है जिनके समाधान पर ही आज के संदर्भ में किसी भी शिक्षा नीति की प्रासंगिकता सिद्ध हो सकती है। ये हैं काम का अधिकार, राष्ट्रीय एकता और अखंडता के खतरों का निवारण और भारतीयों के दिलों में सूखते जा रहे इंसान की चिंता। समिति का मानना है कि जो शिक्षा आज देश में चल रही है उसमें इतनी सामर्थ्य नहीं है जो संकट का समाधान कर सके। इसलिए यह पूर्णरूप से नई शिक्षा का प्रस्ताव करते हुए इस बात पर जोर देती है कि "मैकाले की बनाई परंपरा को हम हमेशा के लिए छोड़ दें और नया शुभारंभ करें।" दूसरे शब्दों में यह समीक्षा स्वीकार करती है कि भारत में बेरोजगारी, सांस्कृतिक-राजनैतिक बिखराव और दिनों-दिन बढ़ती जा रही संवेदनहीनता का एक महत्वपूर्ण कारण मैकाले की शिक्षा नीति है और इसलिए इसे त्यागे बिना समाज की गति को ठीक मार्ग पर नहीं लाया जा सकता।

आचार्य राममूर्ति की अध्यक्षता में गठित समिति का मानना है कि स्कूली तंत्र में व्यावसायिक शिक्षण की वर्तमान प्रणाली विद्यार्थियों को व्यावसायिक धारा की ओर आकृष्ट करने में सफल नहीं हुई है। लोगों को काम के लिए समर्थ बनाने हेतु शिक्षा में बदलाव लाने का अर्थ मात्र बाजार के लिए उपयोगी कुछ कौशलों को विकसित करना नहीं है। शिक्षा की सम्पूर्ण प्रक्रिया में सामाजिक दृष्टि से उपयोगी काम और उत्पादक श्रम के प्रति सम्मान की एक संस्कृति विकसित करनी होगी। इसके फलस्वरूप केवल और अधिक प्रासंगिक ज्ञान विकसित करने में ही नहीं, बल्कि ऐसी सृजनशील बुद्धि के विकास में भी मदद मिलेगी जिसके आधार पर इन्सान जीवन भर सीख सके। यही एक तरीका है जिससे लोगों को काम के लिए समर्थ बनाया जा सकता है। शिक्षा की निर्णायक भूमिका विद्यार्थियों को रचनात्मक काम के लिए क्षमताओं के साथ लैस करने में है। विकासोन्मुख नियोजन प्रक्रिया को अमल में लाकर काम के नये अवसर उत्पन्न करने होंगे। मूल उद्देश्य यह है कि 'स्कूल की दुनिया' और 'काम की दुनिया' के बीच कारगर कड़ियां स्थापित की जाएं। उपर्युक्त संदर्भ में शिक्षा के व्यावसायीकरण के पुनर्निर्माण में निम्नलिखित विशेषताएं होंगी:

(1) कार्यानुभव/सामाजिक दृष्टि से उपयोगी उत्पादक काम को प्रारम्भिक स्तर पर स्कूली पाठ्यक्रम के एक अभिन्न अंग के रूप में शामिल किया जाना चाहिए। इसको विभिन्न विषयों के साथ विषय-वस्तु और शिक्षण पद्धति दोनों स्तरों पर जोड़ने की जरूरत होगी। यह कदम कार्यानुभव/सामाजिक दृष्टि से उपयोगी उत्पादक काम के नाम पर कुछ पीरियडों को रस्म-बतौर अलग रख देने के रिवाज से बिल्कुल ही भिन्न होगा।

(2) माध्यमिक शिक्षा को अकादमिक और व्यावसायिक धाराओं में बांटा नहीं जाना चाहिए। सभी विद्यार्थी कोर पाठ्यक्रम का अनुसरण करें जिसमें व्यावसायिक अवयव के लिए महत्वपूर्ण स्थान होगा।

(3) स्कूलों द्वारा भाषा, गणित, विज्ञान तथा सामाजिक अध्ययन जैसे अकादमिक विषयों के साथ विभिन्न विषय-समूहों में व्यावसायिक पाठ्यक्रमों का प्रावधान करना होगा। इस प्रकार के समेकित पाठ्यक्रमों को लागू करने के सिलसिले में अकादमिक विषय-वस्तु का महत्व कम नहीं होना चाहिए।

(4) माध्यमिक स्तर पर स्वरोजगार या नौकरियों में सीधी भर्ती के उद्देश्य से जो विद्यार्थी व्यावसायिक शिक्षण के लिए इच्छुक होंगे, उनके लिए संबंधित व्यावसायिक या अन्य विषयों में, और यदि जरूरी हुआ तो सेतु पाठ्य-श्रृंखलाओं द्वारा आगे की शिक्षा हेतु प्रावधान होगा।

(5) व्यावसायिक पाठ्यक्रमों को इस प्रकार पुनर्गठित किया जाए कि वे संगठित तथा असंगठित दोनों क्षेत्रों में सरकारी विकास और समाज कल्याण विभागों सहित खास तौर पर ग्रामीण क्षेत्रों में अनेक पेशों के लिए प्रासंगिक बन सकें।

(6) व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की रूपरेखा इस प्रकार की होनी चाहिए कि विद्यार्थी आगे जाकर एक पेशे से दूसरे पेशे में जाने के लिए कुशल बनें ताकि उनके जीवन में अधिकाधिक गतिशीलता सुनिश्चित की जा सके और वे तेजी से बदलती हुई तकनीक की मांगों के साथ बदलने में समर्थ हों।

(7) पाठ्यक्रम विकास एवं कौशल प्रशिक्षण, नियोक्ता संस्थानों/एजेंसियों की जरूरतों के अनुरूप हों। इन नियोक्ता एजेंसियों के कार्मिकों को पाठ्यक्रम निर्माण, शिक्षण एवं कौशल प्रशिक्षण की प्रक्रियाओं में शामिल किया जाना चाहिए। इनका उपयोग 'अभ्यास शालाएं' (प्रैक्टिस स्कूल) और शैक्षिक दृष्टि से सहायक 'कार्यपीठ' (वर्क बैंच) स्थापित करने के लिए किया जाए।

(8) विद्यार्थियों को प्रमाणपत्र देने के काम में विकेन्द्रीकरण का उद्देश्य संगठित और असंगठित दोनों क्षेत्रों में उत्पादन इकाइयों एवं सरकारी विभागों को इस हेतु मान्यता प्रदान करके पूरा किया जा सकता है। ऐसी मान्यता प्राप्त इकाइयों में गुणवत्ता के स्तर को बरकरार रखने के लिए एक कारगर निरीक्षण प्रणाली विकसित करनी होगी।

(9) सरकारी तथा सार्वजनिक क्षेत्र में नौकरियों के लिए भर्ती नीति में समवर्ती परिवर्तन करने की जरूरत होगी ताकि व्यावसायिक पाठ्यक्रमों को उनमें मान्यता मिल सके।

(10) एप्रेन्टिसशिप ऐक्ट में यथोचित संशोधन किया जाए ताकि माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा के स्तर पर व्यावसायिक पाठ्यक्रम के विद्यार्थियों को एप्रेन्टिसशिप की सुविधा मिल सके।

(11) नियोजक एजेन्सियां अपनी अलग परीक्षण व्यवस्था विकसित और लागू कर सकती हैं ताकि डिग्रियों को नौकरियों से विधिवत् रूप से अलग किया जा सके।

हाल ही में मूलभूत नैतिक मूल्यों में व्यापक गिरावट देखी गई है। जब हम अपनी महान सभ्यता और विरासत की ओर देखते हैं तो इस प्रवृत्ति का भारत के लिए एक विशेष मर्मस्पर्शी अर्थ हो जाता है। हमारी शिक्षण संस्थाएं जो मूल्यों में इस व्यापक गिरावट के स्पष्ट असर से अछूती नहीं हैं, उनकी इस परिस्थिति के प्रति गहरे सरोकार, सूझ-बूझ के साथ कुछ करने की विशेष जिम्मेदारी है ताकि वे मूल्यों की शिक्षा में एक प्रबल भूमिका निभा सकें। यह काम नैतिकता पर विशेष कक्षाएं लगाकर, भाषण सुनाकर या तोता-रटन्त पद्धति से पाठ्य-पुस्तकों का मशीनी अध्ययन करके नहीं किया जा सकता। दरअसल, मूल्यों की शिक्षा पूरी शिक्षण प्रक्रिया एवं स्कूली माहौल के एक अभिन्न अंग के रूप में विकसित होनी चाहिए। लोकतंत्र, धर्म निरपेक्षता, समाजवाद, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, लैंगिक समता, ईमानदारी, निष्ठा, साहस व न्याय (निष्पक्षता), सभी प्राणियों तथा विभिन्न संस्कृतियों एवं भाषा के लिए आदर-भाव, इत्यादि मूल्य ही ऐसे मूल्यों का धरातल तैयार करते हैं जो कि देश की एकजुटता तथा अखण्डता के लिए बुनियादी हैं। यदि शिक्षा की प्रक्रिया में इन आधारभूत मूल्यों का समावेश नहीं होता तो शिक्षा अपनी अंतर्निहित उपादेयता ही खो बैठती है। स्कूलों और कालेजों में होने वाले सभी पाठ्यक्रम आधारित एवं पाठ्यक्रमेत्तर क्रियाकलापों के द्वारा यह संदेश स्पष्टतः एवं दृढ़ता के साथ प्रसारित किया जाना चाहिए।

शिक्षा में एक क्षेत्र ऐसा भी होना चाहिए जो हमारे नैतिक मूल्यों को बरकरार रख सके। आज भारतीयों के दिलों में भावनाओं की प्रवाहित होती सरिता सूख रही है, उसे अनवरत प्रवाहित रखने के लिए यह जरूरी है कि हम सभी इंसानी जज्बातों को समझें, एक-दूसरे की संस्कृति, धर्म-दर्शन और विचारों का सम्मान करें। शिक्षा नीति की समीक्षा के लिए गठित आचार्य राममूर्ति समिति का भी यही मानना है कि शिक्षा में इस प्रकार के विषयों की शिक्षा देने का भी प्रावधान हो।

मैकाले की शिक्षा नीति पर जब भी चर्चा होती है तो उसमें दो बिंदु ही अधिक उभर पाते हैं। एक तो यह कि यह शिक्षा पूर्णतः परीक्षा प्रणाली पर आधारित है और दूसरा यह कि शिक्षार्थी को बाबू-क्लर्क बना देती है क्योंकि मैकाले का प्रयोजन अंग्रेजी साम्राज्य को चलाए रखने वाले बाबू तैयार करना था और इसीलिए यह आश्चर्यजनक नहीं लगता कि हमारा सारा प्रशासन और विकास प्रक्रिया उस बाबू मानसिकता से ग्रस्त है जो अपने अलावा हर किसी के प्रति आशंका से त्रस्त रहती है। लेकिन मैकाले नीति का इससे भी बड़ा प्रयोजन इस समाज की अपनी ज्ञानधारा को नष्ट करके उसकी जगह औपनिवेशिक ज्ञान-धारा की प्रतिष्ठा करना था। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में विभिन्न ब्रिटिश अधिकारियों के पत्राचार में यह स्पष्ट कहा गया है कि भारतीयों को केवल अंग्रेजी साहित्य आदि पढ़ाने से काम नहीं चलेगा क्योंकि जब तक भारतीय विज्ञान और शास्त्र को पश्चिमी विज्ञान और शास्त्र के सम्मुख हीन नहीं सिद्ध किया जाता तब तक उनको औपनिवेशिक शासन का स्थायी अनुगामी बना सकना संभव नहीं होगा।

दुर्भाग्य है कि आचार्य राममूर्ति समिति सही सरोकारों के बावजूद इस औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्त नहीं है और इसीलिए वह समिति के गठन से संबंधित सरकारी संकल्प की इस मान्यता को स्वीकार कर लेती है कि हमारे देश के अधिकांश निवासियों को शिक्षा से वंचित मानने का कोई औचित्य नहीं है क्योंकि किसी न किसी व्यवसाय या मजदूरी में लगे अधिकांश लोगों को अपने धंधे का आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त है। निरक्षर लोगों को भी और अपने-अपने व्यवसाय में उनकी कुशलता का स्तर किसी आधुनिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति से कम नहीं है। दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह है कि देश की अधिकांश जनता कमोबेश अपनी जिस ज्ञानधारा में प्रशिक्षित है उसे ही राज्य की मान्यता प्राप्त नहीं है क्योंकि राज्य का वर्तमान ढांचा और नेतृत्व उसी औपनिवेशिक मानसिकता से ग्रस्त है जो मैकाले का प्रयोजन था। देश के संकटों की अधिकांश जिम्मेदारी वस्तुतः कथित शिक्षा से वंचित वर्ग पर नहीं बल्कि उस वर्ग पर है जिसे हम फिलहाल शिक्षित मानते हैं लेकिन जो देश की वास्तविक मुख्य ज्ञानधारा से कटा हुआ है।

यदि समिति मैकालेवाद से सचमुच छुटकारा पाना चाहती है तो उसे अपना बलबिंदु बदलना होगा और यह स्वीकार करना होगा कि इस देश का कथित शिक्षित वर्ग ही वास्तविक शिक्षा से वंचित है। बल्कि इसे दुर्शिक्षित वर्ग कहना शायद अधिक सही होगा और जरूरत इस बात की है कि इस वर्ग को मैकालेवाद से मुक्त किया जाए। दूसरे शब्दों में इसका मतलब होगा समाज की अपनी ज्ञानधारा को राज्य द्वारा पूर्ण मान्यता और उसके विच्छिन्न और लुप्त स्रोतों की खोज और पुनर्प्रतिष्ठा का निष्ठापूर्ण प्रयास। अंग्रेजी शासन की शुरुआत से ही औपनिवेशिक ज्ञानधारा को हम मुख्यधारा मानने के मुगालते में रहे हैं चाहे अपने पर उसे थोपे जाने के सारे राजकीय और गैर-राजकीय औपनिवेशिकतावादी प्रयत्नों के बावजूद अधिकांश समाज ने उसे स्वीकार नहीं किया हो। यह वस्तुतः आश्चर्यजनक है कि लगभग दो सौ वर्षों की अनवरत कोशिश के बावजूद देश का अधिसंख्यक जन इस कथित मुख्यधारा से अलग अपनी विरल होती जा रही ज्ञान परंपरा से कमोबेश जुड़ा रह सका। जबकि इस परंपरा के पीछे राज्य या पूंजी जैसे किसी संगठित और साधन संपन्न प्रतिष्ठान का कोई समर्थन नहीं बचा था। सच तो यह है कि निरक्षरता के प्रसार की अधिकांश जिम्मेदारी भी इसी मैकालेवादी शिक्षा पद्धति की है क्योंकि उसके द्वारा दी जाने वाली साक्षरता जिस ज्ञान-विज्ञान से जुड़ी थी उसे भारत का अधिकांश जन अपनी आवश्यकता के अनुरूप नहीं पाता था और दुर्भाग्य से एक ही प्रकार की ज्ञानधारा की संस्थागत मान्यता के कारण अन्य कोई संगठन नहीं बचा था जो साक्षरता और पारंपरिक श्रुतिपरक और व्यावहारिक ज्ञानधारा के बीच सर्जनात्मक रिश्ता कायम करते हुए उसे व्यापक समाज तक पहुंचा पाता। सामान्य नियम है कि जिस चीज की जरूरत नहीं होती उसका प्रचलन नहीं हो पाता। मैकालेवादी साक्षरता के साथ भी यही हुआ। आधुनिक राज्य और पूंजी संस्थान यदि साक्षरता के प्रसार पर इतना अधिक जोर देने लगे हैं तो इसका वास्तविक कारण यही है कि समाज जितना इस औपनिवेशिक ज्ञानधारा से जुड़ी साक्षरता प्राप्त कर लेगा उतना ही वह आधुनिकतावादी बाजार और राज्य के अधिक अनुकूल होता जाएगा।

प्रायः हमारे शिक्षाशास्त्री मैकालेवाद के विकल्प के नाम पर उसी में यत्र-तत्र कुछ प्रक्रियागत या प्रशासनगत सुधार करते रहे हैं। वे इस बात को लगभग भूल जाते हैं कि समाज की अपनी एक अलग शिक्षण प्रक्रिया है और उसी में मैकालेवाद का वास्तविक विकल्प खोजा जा सकता है। आधुनिकतावादी शिक्षा के लोग अक्सर हमारे निरक्षर माने जाने वाले संतों या कुछ आधुनिक लेखकों आदि के ज्ञान पर इसलिए आश्चर्य प्रकट करते रहे हैं कि स्कूली या विश्वविद्यालय शिक्षा में से गुजरे बिना उन्होंने कैसे इतना पांडित्य प्राप्त कर लिया। लेकिन तब वे इस बात की अनदेखी कर रहे होते हैं कि आधुनिक शिक्षा प्रणाली में से गुजरे बिना उनके अपने विषय में निष्णात होने की प्रक्रिया में ही तो मैकालेवादी शिक्षा का विकल्प मुखरित हो रहा है। क्या इस प्रक्रिया का कोई संस्थागत स्वरूप संभव नहीं है? ऐसा नहीं है कि आचार्य राममूर्ति समिति इस बात से बिल्कुल बेखबर हो। उसने परिप्रेक्ष्य पत्र में सैकड़ों

वर्षों के अनुभवों से प्राप्त पारंपरिक ज्ञान और समझदारी के समृद्ध खजाने को अनदेखा करने पर चिंता प्रकट करते हुए प्रौद्योगिकी के देशीकरण आदि की बात भी की है। यह भी स्पष्ट है कि जिस प्रौद्योगिकी ने बेरोजगारी पैदा की है उससे मुक्ति के बिना सभी के लिए रोजगार संभव नहीं हो सकेगा। लेकिन तब यह केवल शिक्षा प्रक्रिया का सवाल नहीं बल्कि समूची जीवन दृष्टि और विकास की एक समांतर अवधारणा का सवाल होगा। परिप्रेक्ष्य पत्र में शिक्षा व्यवस्था के विकेंद्रीकरण पर बल दिया गया है। लेकिन क्या वह राजसत्ता और अर्थसत्ता के विकेंद्रीकरण के बिना संभव है? और क्या वह विकेंद्रीकरण तब फरेब नहीं होगा यदि उसमें स्थानीय समाज की निर्णयात्मक पहल और विशिष्टता न बची रह सके? इसलिए यह केवल शिक्षा नीति का ही नहीं राजनीति और अर्थनीति से भी जुड़ा सवाल है। क्या राजसत्ता और अर्थसत्ता के वर्तमान संस्थान अपनी हैसियत को कम करने और एक वास्तविक लोकतांत्रिक समाज बनाने में सचमुच प्रयत्नशील हो सकेंगे?

समीक्षा समिति ने इस परिप्रेक्ष्य पत्र में मातृभाषा और क्षेत्रीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने और समाज विज्ञानों में नये शोध आदि के लिए साधन जुटाने पर भी बल दिया है। उसका यह कहना सही है कि असमानता को कम करने के लिए क्षेत्रीय भाषाओं में सीखने के संसाधनों के विकास का विशेष प्रयास किया जाना चाहिए और समाज विज्ञान का क्षेत्र विकसित करने से नई विचार प्रक्रियाओं व सृजनात्मक चिंतन को प्रोत्साहन मिलता है। इसके कारण विकास के स्वरूप व दिशा के अध्ययन में सहायता मिलती है जो कि नई नीतियों की खोज में आवश्यक चिंतन के नए दायरे बनाने के लिए महत्वपूर्ण है। लेकिन क्षेत्रीय भाषाओं को ज्ञान का माध्यम बनाने का काम यदि आज तक सफल नहीं हो सका है तो इसके पीछे भी मुख्य कारण यही है कि हमारा जोर ज्ञान और चिंतन के माध्यम को अनुवाद और अनुकरणगामी भाषा बनाने पर रहा है। जब तक समाज विज्ञानों के क्षेत्र में देशी ज्ञान मीमांसा की प्रतिष्ठा नहीं होती तब तक न तो अपने देश के बारे में कोई सर्जनात्मक चिंतन संभव है और न क्षेत्रीय भाषाओं को सीखने के वास्तविक माध्यम के रूप में संस्थागत मान्यता मिल सकती है। वस्तुतः देशज ज्ञान-विज्ञान में ऐसी कोई चीज नहीं है जो मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा में व्यक्त नहीं की जा सकती हो। कठिनाई तब आती है जब हम एक स्वाधीन भाषा को औपनिवेशिक ज्ञान-विज्ञान और ज्ञान मीमांसा का माध्यम बनने पर मजबूर करते हैं।

इस प्रक्रिया में वह यदि चिंतन की नहीं अनुवाद की बोझिल भाषा बनने पर विवश होकर असंप्रेषणीय-सी लगे तो यह उसकी असमर्थता नहीं बल्कि ताकत है—यह ताकत कि वह केवल मूल्य निरपेक्ष संकेतात्मक ध्वनि चिह्न नहीं बल्कि एक जीवंत सांस्कृतिक प्रक्रिया है। यदि शिक्षा में हम पारंपरिक ज्ञान-विज्ञान को मान्यता देते हैं तो भारतीय भाषाओं को अपनाने के अलावा कोई रास्ता ही नहीं बचता क्योंकि उनके बिना उस ज्ञान का प्रशिक्षण और सर्जनात्मक विकास संभव ही नहीं है। इसलिए मैकालेवादी शिक्षा नीति का विकल्प केवल परीक्षागत या प्रशासनगत सुधारों में नहीं बल्कि ज्ञान-विज्ञान की देसी पद्धति और उसकी कारक उस मूल्य दृष्टि और तत्व दृष्टि में है जो अब भी इस देश के बहुसंख्यक मगर असंगठित जन के मनों में राख में दबे अंगार-सी ही सही, सुलग तो रही है। क्या राममूर्ति समिति इस राख को हटा कर अंगार को यज्ञ-ज्वाला बना सकेगी?

540, पाना उद्यान,
नरेला, दिल्ली-110040

नई शिक्षा नीति और राममूर्ति समिति

मनोज कुमार श्रीवास्तव,
आलोक कुमार पाण्डेय

ऐसी कल्पना की जा रही थी कि नई शिक्षा नीति देश के कर्णधारों को इक्कीसवीं सदी के लिए तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगी लेकिन इसके विपरीत आज हमारे देश में जनसंख्या का लगभग 40 प्रतिशत भाग ही शिक्षित है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्रों में मूल्यपरक शिक्षा का अभाव है। इतना ही नहीं शिक्षा निरन्तर महंगी भी होती जा रही है।

मैकाले की शिक्षा नीति

आज जो शिक्षा दी जा रही है वह इतनी सक्षम नहीं है कि उससे विभिन्न शैक्षिक समस्याओं का अपेक्षित समाधान किया जा सके। इसलिए आवश्यकता है कि मैकाले की बनाई गई परम्परा को तोड़कर नई शुरुआत की जाए। इस सम्बंध में आचार्य राममूर्ति की अध्यक्षता में गठित समिति ने यह स्वीकार किया है कि वर्तमान में दिनोंदिन बढ़ते जा रहे सामाजिक बिखराव, बेरोजगारी तथा संवेदनहीनता का मूल कारण मैकाले की शिक्षा नीति ही है। इस नीति को छोड़े बिना शिक्षा को सही स्वरूप कभी भी प्रदान नहीं किया जा सकता।

मैकाले की शिक्षा नीति पर जब भी चर्चा की जाती है तो केवल यही बात सामने आती है कि यह शिक्षा पूरी तरह परीक्षा प्रणाली पर आधारित है और शिक्षार्थी को मात्र क्लर्क बनाने में सक्षम है क्योंकि मैकाले का यही तो उद्देश्य था कि अंग्रेजी साम्राज्य को चलाने वाले क्लर्क तैयार किए जाएं। यही कारण है कि हमारा पूरा प्रशासन और विकास प्रक्रिया इसी क्लर्क मानसिकता से जकड़ी हुई है। लेकिन मैकाले की शिक्षा नीति का उद्देश्य मात्र बाबू या क्लर्क ही तैयार करना नहीं था वरन् इसका एक और उद्देश्य भी था कि भारतीयों को उनकी सांस्कृतिक धारा से तोड़कर औपनिवेशिक धारा में सम्मिलित किया जाए।

लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि आचार्य राममूर्ति समिति सही सरोकारों के बावजूद औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्त नहीं हो पाई। यही कारण है कि समिति के गठन से सम्बन्धित इस मान्यता को स्वीकार किया जा रहा है कि हमारे देश में अधिकांश लोग अशिक्षित हैं। यदि मैकाले नीति के अंतर्गत दी जाने वाली शिक्षा सही नहीं है तो देश के अधिकांश लोगों को अशिक्षित मान लेना पूरी तरह अनुचित नहीं है क्योंकि वे सभी लोग देश की सांस्कृतिक मुख्य धारा से जुड़े हुए हैं, किसी भी व्यवसाय में वे किसी साक्षर व्यक्ति से कम कुशल हो यह जरूरी नहीं है। यह हो सकता है कि देश के अधिकांश लोग अशिक्षित हों परन्तु हर अशिक्षित व्यक्ति निरक्षर हो यह आवश्यक नहीं है। लेकिन दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति तो यह है कि देश की अधिकांश जनता कमोवेश जिस ज्ञान धारा में प्रशिक्षित है उसे राज्य की ही मान्यता प्राप्त नहीं है क्योंकि राज्य का वर्तमान ढांचा उसी औपनिवेशिक मानसिकता से ग्रस्त है जो मैकाले का प्रयोजन था। देश के संकटों की अधिकांश जिम्मेदारी कथित रूप से शिक्षा से वंचित वर्ग पर नहीं अपितु उस वर्ग पर है जो शिक्षित होते हुए भी देश की मुख्य ज्ञान धारा से कटा हुआ है।

वास्तव में यदि समिति मैकालेवाद से छुटकारा चाहती है तो उसे यह स्वीकार करना होगा कि इस देश का कथित शिक्षित वर्ग ही वास्तव में शिक्षा से वंचित रह गया है। आवश्यकता इस बात की है कि इस वर्ग को मैकालेवाद से मुक्त किया जाए। अर्थात समाज की अपनी ज्ञान धारा को राज्य द्वारा पूर्ण मान्यता दिलायी जाए तथा उसके विभिन्न और लुप्त स्रोतों की खोज तथा पुनर्प्रतिष्ठा का निष्ठापूर्ण प्रयास किया जाए।

गलत मान्यताएं

एक तरफ तो समिति शिक्षा को औपचारिक, औपचारिकेतर, अकादमिक, रोजगारोन्मुख, तकनीकी, गैर-तकनीकी आदि रूपों में विभक्त करने को अनुचित मानती है किन्तु इन भेदों को मिटाकर वह कौन-सा लक्ष्य प्राप्त करना चाहती है यह स्पष्ट करना उसके लिए कठिन है। यदि समिति यह मानती है कि यह सब भेदभाव ऊंच-नीच जैसे भाव उत्पन्न करते हैं तो इन नामों को मिटाने के बजाय इस ऊंच-नीच भेदभाव को मिटाने का प्रयास किया जाना चाहिए।

समिति ने इन्सान को परिसम्पत्ति या राष्ट्रीय संसाधन मानने से इन्कार किया है, इससे तो उसकी नियति पर से विश्वास ही उठने लगता है। इससे पता चलता है कि समिति उसे सम्पत्ति या साधन तो मानती ही है, उसे कुछ और ही मानकर उसका विकास करना चाहती है। मैकालेवाद को हटाने के चक्कर में समिति अपने मूल उद्देश्य से ही विचलित हो गई और वह यह तय ही नहीं कर पा रही है कि वह स्कूलिंग पक्ष में है या डिस्कूलिंग के पक्ष में। एक ओर तो वह स्कूल को शैक्षिक

पिरामिड का मुख्य साधन मानती है वहीं दूसरी तरफ उन्हें उसकी चारदीवारी से बाहर भी निकालना चाहती है। इस प्रकार समिति के दिशा बोध पर्चे को पढ़कर यह समझ में नहीं आता कि वह उसके हक में है या विरोध में।

ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा

जहां तक ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा के प्रसार का प्रश्न है एक तरफ तो यह सच है कि अधिकांश ग्रामीण अशिक्षित हैं वहीं यह भी सत्य है कि अधिकांश ग्रामीण निरक्षर नहीं है। ग्रामीण क्षेत्रों में शत प्रतिशत अशिक्षा तो है लेकिन शत प्रतिशत निरक्षरता नहीं है। उनमें यह अशिक्षा इस कारण है कि वे गरीब हैं और कुछ तो अत्यधिक गरीब हैं। यद्यपि सरकार उन्हें निःशुल्क शिक्षा देने का प्रयास कर रही है लेकिन वह उन्हें भोजन और कपड़ा तो निःशुल्क नहीं दे रही। भोजन और कपड़े के लिए उन्हें मेहनत मजदूरी करनी ही पड़ती है। छोटे बच्चों के कमजोर कंधों पर भी काम का बोझ रहता है। उन्हें भी घर की अर्थव्यवस्था में योगदान के लिए कार्य करना होता है। ऐसी स्थिति में वे कैसे पढ़ सकते हैं?

ग्रामीणों को साक्षर करने के उपायों के साथ-साथ उनकी गरीबी दूर करने के भी उपाय किए जाने चाहिए। इससे निरक्षरता की समस्या में कमी आएगी। ऐसा नहीं है कि कोई ग्रामीण अपने बच्चों को या स्वयं को साक्षर नहीं बनाना चाहता। यदि उसकी गरीबी दूर हो जाए तो वह स्वयं भी उसके उपाय करना प्रारम्भ कर देगा। इस समय ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी के बावजूद हर व्यक्ति अपने बच्चों को साक्षर बनाने का प्रयास कर ही रहा है। लेकिन सबसे बड़ी समस्या है प्रौढ़ों के निरक्षरता की। दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति ही कही जाएगी कि अनेक प्रयत्नों के बावजूद प्रौढ़ शिक्षा का प्रचार उतना नहीं हो पा रहा है जितनी अपेक्षा की जाती थी।

निरक्षर होने के कारण ग्रामीणों को यह पता नहीं चल पाता कि विश्व में क्या कुछ हो रहा है, हमारा विज्ञान कहां से कहां पहुंच गया। अशिक्षा के कारण अन्धविश्वास का जन्म होता है। प्रौढ़ों के कारण ही अन्धविश्वास अधिक है। इसके लिए उन्हें आक्षर बनाना आवश्यक है।

महंगी शिक्षा

आज की शिक्षा निरन्तर महंगी होती जा रही है। इस समस्या ने आज अत्यधिक जटिल रूप धारण कर लिया है। यद्यपि सरकार ने अपने स्कूलों में कम शुल्क में शिक्षा उपलब्ध कराने का प्रयास किया है लेकिन इन स्कूलों में शिक्षा मात्र खाना पूर्ति करने के लिए ही दी जाती है। अतः इनका स्तर भी निम्न श्रेणी का है। इन सब कारणों से शिक्षार्थी का एकमात्र सहारा प्राइवेट स्कूल ही रह जाता है। जहां पर न तो किसी हड़ताल का प्रभाव पड़ता है न ही सरकारी बन्दी का। इन स्कूलों में केवल रविवार और त्यौहारों को छोड़कर शेष सभी दिनों में अधिकतम शिक्षा देने का प्रयास किया जाता है। इन स्कूलों में न तो सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं न ही खेलकूद। यहां के छात्रों का एकमात्र उद्देश्य होता है अधिक-से-अधिक पढ़ाई। यही कारण है कि छात्रों का रुझान इन प्राइवेट कालेजों की तरफ तेजी से बढ़ा है। इन स्कूलों में केवल वे ही लड़के पढ़ सकते हैं जो दो-ढाई हजार रुपये खर्च करने की सामर्थ्य रखते हैं। इसके अतिरिक्त किताब-कापी तथा स्टेशनरी इत्यादि के मूल्यों में हो रही उत्तरोत्तर वृद्धि शिक्षा को और भी अधिक महंगा बना रही है। ये सब शिक्षा के अभिन्न अंग हैं। इसलिए इनसे बचा भी नहीं जा सकता लेकिन शिक्षा को महंगी बनाने में सहयोगी इन कारणों के लिए क्या प्राइवेट स्कूल एवं पत्राचार कोर्स दोषी ठहराये जा सकते हैं? शायद नहीं। इनके न रहने से शिक्षार्थी का जितना नुकसान होगा उतना इनके रहने से उत्पन्न होने वाली शिक्षा की महंगाई की समस्या से नहीं।

जहां तक कापी, किताबों के महंगे होने का सवाल है यदि सरकार प्रयत्न करे तो इसका समाधान कुछ हद तक संभव है। इसके लिए सरकार को चाहिए कि वह किताबों को राजकीय प्रकाशन के माध्यम से छपवाएं एवं कापियों के लिए सस्ते कागज उपलब्ध कराए। इसके अतिरिक्त भी अनेक समस्याएं हैं जिनके लिए उपाय खोजा जाना आवश्यक है।

शिक्षा का माध्यम

भारत में बहुत लंबे समय से शिक्षा के माध्यम को लेकर वाद-विवाद चलता रहा है। यह समस्या इस समय हर उस व्यक्ति की शिक्षा में बाधक है जो थोड़ी बहुत भी अंग्रेजी नहीं जानते हैं। इस विषय पर लंबे समय से विवाद है। आजादी से पहले और आजादी के बाद इस संबंध में जितने भी आयोग गठित किए गए चाहे वह राधाकृष्णन आयोग हो या कोठारी आयोग--सभी के द्वारा इस समस्या पर विचार किया गया लेकिन इसके बावजूद इस समस्या के समाधान के लिए कोई कारगर कदम नहीं उठाया जा सका। आज भी यह समस्या उसी रूप में विद्यमान है।

आचार्य राममूर्ति के दिशाबोध पत्रक में शिक्षा के माध्यम को चर्चा का विषय नहीं बनाया गया। केवल प्रारम्भिक स्तर पर मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा का प्रयोग करने को कहा गया है। उच्च स्तर पर शिक्षा में प्रयुक्त माध्यम पर विचार नहीं किया गया है। आज उच्च स्तर पर शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी ही है जबकि हमारे देश में मात्र 5-6 प्रतिशत लोग ही अंग्रेजी का ज्ञान रखते हैं। मैकाले की शिक्षा-नीति यही थी कि यदि भारतीयों

को अंग्रेजी दासता से कभी मुक्त नहीं होने देना है तो अंग्रेजी में ही शिक्षा देनी होगी। यही कारण है कि आज भी हम अंग्रेजी की दासता से मुक्त नहीं हो पा रहे हैं।

शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होना विद्यार्थियों के लिए एक समस्या है। अत: माध्यम ऐसा होना चाहिए कि उससे देश भर के शिक्षकों तथा शिक्षार्थियों के आपसी तालमेल में कोई बाधा उत्पन्न न हो।

आज देश की अधिकांश शिक्षा उच्च तथा सम्पन्न वर्ग तक सीमित होकर रह गई है। देश के अस्सी प्रतिशत से नब्बे प्रतिशत शिक्षित लोगों की शिक्षा उच्चतर माध्यमिक स्तर तक आकर समाप्त हो जाती है। इसका मुख्य कारण शिक्षा का माध्यम है। पब्लिक स्कूलों में हो रही उत्तरोत्तर वृद्धि हमारे देश में फैल रही अंग्रेजी पाश्चात्य मानसिकता का दुष्परिणाम है। कान्वेन्ट स्कूल, मिशन स्कूल, नवोदय विद्यालय आदि भी इसीलिए विवाद के विषय बने हुए हैं क्योंकि इन तक जनसाधारण की पहुंच नहीं है। इनमें शिक्षा का मुख्य माध्यम अंग्रेजी है जो 95 प्रतिशत लोगों की समझ के बाहर है। आगे चलकर इन्हीं अंग्रेजी स्कूलों के छात्र सरकारी और गैर-सरकारी नौकरियों में प्रतिष्ठित हो जाते हैं क्योंकि नौकरियों में प्राथमिकता अंग्रेजी जानने के आधार पर दी जाती है। इसलिए वे सभी लोग जो हिन्दी या क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से पढ़े हैं आगे नहीं बढ़ पाते हैं।

यह समस्या शहरी और ग्रामीण दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से विद्यमान है। विज्ञान, चिकित्सा, इंजीनियरिंग इत्यादि की पढ़ाई का एकमात्र माध्यम अंग्रेजी है। सी. ए., संघ लोक सेवा आयोग की सभी परीक्षाओं तथा कंपनी सेक्रेटरी परीक्षाओं का माध्यम भी अंग्रेजी है। इस सम्बन्ध में तो यू. पी. एस. सी. के कार्यालय के बाहर लम्बा आंदोलन भी चला था। लेकिन अब तक कोई ठोस परिणाम नहीं निकला। 1979 से लेकर 1989 तक की परिक्षाओं में 80 से 85 प्रतिशत उम्मीदवार अंग्रेजी माध्यम वाले ही थे।

इस अंग्रेजी माध्यम के कारण भारत में शिक्षा के स्तर में जो गिरावट आई है तथा उससे जो राष्ट्रीय क्षति हुई है उसके आंकड़े चौंकाने की क्षमता रखते हैं। हरियाणा बोर्ड (भिवानी) की वर्ष 81 और 82 की परीक्षाओं में दसवीं कक्षा के फेल होने वाले छात्रों में अंग्रेजी में फेल होने वालों की संख्या सर्वाधिक थी। विश्वविद्यालय स्तर पर भी अंग्रेजी में फेल होने वाले छात्रों की संख्या सर्वाधिक होती है। पंजाब और हरियाणा इसके प्रमाण हैं।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि रूस, जापान, चीन इत्यादि देशों में शिक्षा का माध्यम उनकी अपनी भाषाएं ही हैं। लेकिन भारत में जबकि वह भाषाओं की दृष्टि से इतना समृद्ध है शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। आखिर भारत में शिक्षा का माध्यम हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाएं क्यों नहीं है? शिक्षा का माध्यम ऐसी भाषा होनी चाहिए कि उससे पूरे देश के शिक्षकों तथा शिक्षार्थियों के मध्य एक तारतम्य स्थापित हो सके। अंग्रेजी यदि पढ़ना है तो उसे ज्ञानार्जन के लिए ही पढ़ना चाहिए। इसको पढ़ने की अनिवार्यता कदापि नहीं होनी चाहिए। अंग्रेजी वर्चस्व कम करने के लिए उसे सम्पर्क भाषा के रूप में प्रयोग भी कम करना चाहिए क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध देश के युवाओं तथा गांवों में बसी 80-90 प्रतिशत जनता के साथ है।

महिलाओं में अशिक्षा

आज देश में महिलाओं में अशिक्षा का प्रसार का प्रश्न भी एक चुनौती बन गया है। हालांकि इसके लिए सरकार ने समुचित प्रयास किया है तथा अनेक महिला तथा समाजसेवी स्वैच्छिक संगठनों ने भी इस समस्या के समाधान को ढूंढने की दिशा में कारगर कदम उठाए हैं फिर भी भारत के गांवों में लोगों की अधकचरी मानसिकता तथा रूढ़ियों ने इस समस्या का समाधान खोजने में बाधा खड़ी कर दी है। यही कारण है कि व्यापक प्रचार करने के बावजूद आज भी गांवों में लड़कियों की शिक्षा को महत्व नहीं दिया जा रहा है। गांवों में फैली रूढ़ियां तथा यह सोचना कि उनको तो पराए घर जाना होगा, पढ़ा-लिखाकर क्या होगा, लड़कियों की शिक्षा में बाधक बन गया है।

लड़कियों में फैली निरक्षरता में महत्वपूर्ण योगदान गरीबी का भी है। जो व्यक्ति दिन-रात मेहनत करके मुश्किल से दो वक्त की रोटी जुटा पाता है वह किसी तरह अपने लड़कों को तो शिक्षा दिलाने की दिशा में सोच सकता है। लेकिन अपनी लड़कियों की शिक्षा को लेकर उदासीन हो जाता है तथा उन्हें मेहनत-मजदूरी या घरेलू कार्यों में लगा देता है।

1981 की जनगणना के अनुसार हमारे देश की 75 प्रतिशत महिलाएं निरक्षर हैं। केन्द्र और राज्य सरकारों ने उनकी शिक्षा के व्यापक प्रबन्ध किए हैं। नई शिक्षा नीति में उनकी शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है। उनके लिए सीटें आरक्षित की गई हैं। माध्यमिक स्तर तक उनकी शिक्षा नि:शुल्क कर दी गई है। इस व्यवस्था को सभी शहरों एवं गांवों में लागू करने की कोशिश की जा रही है। यद्यपि राममूर्ति समिति ने भी महिलाओं की शिक्षा के सम्बन्ध में ध्यान देने का प्रयास किया है। लेकिन इसके विकास के लिए कुछ नया सुझाने के बजाए पुराने उपायों पर ही बल दिया गया है।

समिति की असफलता

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सरकार द्वारा इतनी सारी समितियां तथा आयोग बनाने के बाद भी शिक्षा के प्रचार-प्रसार तथा उसे सुलभ बनाने की दिशा में कोई कारगर, ठोस तथा सर्वमान्य हल नहीं खोजा जा सका। इसी श्रेणी में राममूर्ति कमेटी भी है। यद्यपि यह कमेटी कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं को उजागर करने में सफल रही है लेकिन उनका कारगर हल सुझाने में लगभग असफल ही रही है। अनेक मूल समस्याओं से समिति ने जैसे बचकर निकलने का प्रयास किया है।

इस समिति ने ग्रामीण क्षेत्रों में मूल्यपरक शिक्षा के प्रसार के लिए क्या कदम उठाए जाने चाहिए इस पर कोई विचार नहीं किया है। यह समिति जो कदम उठाना चाह रही है उनमें से कुछ के कारण महंगी होती जा रही शिक्षा और भी महंगी हो सकती है।

समाधान

यदि यह समिति ग्रामीणों के लिए शिक्षा का विशेष प्रबन्ध करने की दिशा में और भी ध्यान दे तथा सरकार यह कानून बना दे कि पांच वर्ष से अधिक उम्र का कोई भी बच्चा घर पर न रहे। स्कूल जाना उसके लिए अनिवार्य कर दे तब शायद ग्रामीणों में व्यापक निरक्षरता का कुछ समाधान मिल सके। लेकिन इसके लिए सरकार को गरीबी पहले दूर करनी होगी।

सबसे महत्वपूर्ण माध्यम की समस्या को हल करना है। उसके लिए माध्यम अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं को चुना जाना चाहिए।

यदि इन समस्याओं के समाधानों पर गम्भीरता से विचार किया गया तथा उन्हें गम्भीरता से लागू किया गया तो यह कहने में कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी कि कुछ वर्षों बाद देश का प्रत्येक व्यक्ति साक्षर होगा तभी व्यक्तियों के विकास के साथ-साथ देश का विकास सम्भव हो सकता है।

आनन्द मार्ग स्कूल के पास
दक्षिणी बेतियाहाता, गोरखपुर-273001

सप्तर्षि दोहे

डा. देवेन्द्र सिंह

अक्षर-अक्षर चल रे मनवा तज दे दुख की छांव।
हर किताब है सखा सहेली, शब्द ब्रह्म की नांव।।
पढ़े-पढ़ावे बुद्धि जो स्वार्थहीन जवान।
फिर भारत के गांव को मिले संत, विद्वान।।
हर घर की बिटिया पढ़े लक्ष्मी रूप निधान।
भाई-बहन समान हैं सब पर सब कुरबान।।
खिलते सभी समान हैं एक डाल के फूल।
पढ़ी बहू जो चाहते बेटी भेज स्कूल।।
नर की जो रचना करे, भरे खून में भाव।
ऐसी नारी क्यों रहे, अनपढ़ ठांव-कुठांव।।
जाति धरम सब एक है, बिना पढ़े अनुमान।
ज्ञानहीन को सब ठगें—देव, दनुज, इंसान।।
रहे आत्मा देश की, हमरे पुरवा गांव।
पढ़े-लिखे जिस गांव में, बढ़ते उसके पांव।।

प्रौढ़ शिक्षा परियोजना
खलीलाबाद-बस्ती
272175 (उ. प्र.)

ग्रामीण परिप्रेक्ष्य में शिक्षा: एक अवलोकन

गणेश कुमार पाठक,
श्रीप्रकाश गुप्त

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सामाजिक और आर्थिक विकास की दिशा में किए गए प्रयासों के बावजूद हमारे देश के अधिकांश लोग अभी भी शिक्षा, जो मानव विकास की बुनियादी आवश्यकताओं में से एक है, से वंचित हैं। अत्यंत दुःख की बात है कि विश्व के निरक्षरों में से 50 प्रतिशत हमारे देश में हैं और एक बहुत बड़ी संख्या में बच्चे प्राथमिक शिक्षा के स्वीकार्य स्तर से वंचित रह जाते हैं। सरकार शिक्षा को सबसे अधिक प्राथमिकता देती है—एक मानव अधिकार के रूप में तथा अधिक मानवीय और प्रबुद्ध समाज की ओर अग्रसर होने के एक साधन के रूप में। यह जरूरी है कि शिक्षा को महिलाओं तथा पिछड़े वर्गों के लोगों और अल्पसंख्यकों को समानता का हक प्राप्त कराने का एक प्रभावी साधन बनाया जाए। इसके अतिरिक्त शिक्षा को कार्य तथा रोजगारोन्मुख बनाया जाना आवश्यक है और यह भी आवश्यक है कि जो अभिजात्य विकृति हमारी शिक्षा के परिवेश की एक विशेषता बन गई है, उससे शिक्षा को मुक्त किया जाए। शैक्षिक संस्थाएं जातिवाद, सांप्रदायिकता तथा रूढ़िवाद से अधिकाधिक प्रभावित होती जा रही हैं। इसके विरुद्ध संघर्ष करने पर बली देना और सही समतावादी तथा धर्मनिरपेक्ष सामाजिक व्यवस्था की ओर बढ़ना आवश्यक है। संविधान के अनुच्छेद 45 में 14 वर्ष की आयु पूरी करने वालों को निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा की बात कही गई है। लेकिन इस क्षेत्र में संतोषजनक परिणाम प्राप्त नहीं हुए हैं। जैसा कि निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट है।

भारत में साक्षरता का प्रतिशत

जनगणना वर्ष	शिक्षित जनसंख्या	कुल पुरुषों में शिक्षित पुरुष	कुल स्त्रियों में शिक्षित स्त्रियां
1951	16.67	24.95	7.93
1961	24.02	34.44	12.95
1971	29.46	39.45	18.72
1981	36.23	46.89	24.82

सरकार ने 1986 में शिक्षा सम्बंधी जो राष्ट्रीय नीति बनाई थी, उसकी समीक्षा के लिए आचार्य राममूर्ति की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया है। अपना कार्यभार संभालने के पश्चात् समिति ने प्रबुद्ध और मानवीय समाज की ओर शिक्षा के सम्बंध में परिप्रेक्ष्य पर्चा जारी किया है जिससे इस विषय पर राष्ट्रीय स्तर पर परिचर्चा की जा सके।

उपरोक्त समिति के गठन के लिए किए गए संकल्प के अनुसार 1986 की शिक्षा नीति की समीक्षा करने के लिए तीन मुख्य लक्ष्य रखे गए हैं :

- महिलाओं और पिछड़ी जातियों तथा अल्पसंख्यकों को समानता का अधिकार दिलाने के लिए शिक्षा को एक प्रभावशाली तंत्र बनाना।
- शिक्षा को काम और रोजगारोन्मुख बनाना और इसमें से असमानताओं को समाप्त करना, और
- वास्तव में समतावादी और धर्मनिरपेक्ष सामाजिक चेतना की ओर आगे बढ़ना, क्योंकि शिक्षा संस्थाएं तीव्र गति से जातिवाद, सम्प्रदायवाद और याचनावाद की ओर बढ़ रही हैं।

उपर्युक्त तीनों लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 में निम्नलिखित मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित करने हेतु समीक्षा समिति में आम सहमति हो गई है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 में किस प्रकार का संशोधन होना चाहिए और किन मुद्दों पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित करने की जरूरत है। ये हैं :

- शिक्षा को समुचित एवं समग्र रूप में देखा जाना चाहिए।
- शैक्षिक विकास की योजना में इंसान को 'परिसम्पत्ति' या राष्ट्रीय संसाधन मात्र मानना उचित नहीं होगा।
- लोक व्यापीकरण के लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए स्कूल शैक्षिक पिरामिड का आधार मुख्य साधन होना चाहिए।
- शिशु देख-भाल और शिक्षा को प्राथमिक शिक्षा के नियोजन का अभिन्न अंग बनाने की जरूरत है।
- प्रौढ़ शिक्षा की विषय वस्तु और प्रक्रिया को प्रौढ़ साक्षरता से अलग मानते हुए नए सिरे से पुनर्गठित करने की आवश्यकता है।
- भारतीय परिप्रेक्ष्य में सब बच्चों के लिए न्यायसंगत अवसर देने का सिद्धान्त शैक्षिक विकास की दृष्टि से एक बेहतर सिद्धान्त है, बजाए इसके कि कुछ बच्चों में प्रतिभा पालने-परोसने के लिए उन्हें अलग स्कूलों में रख दिया जाए।

- 'सामाजिक जुड़ाव एवं राष्ट्रीय एक जुटता' को मजबूती प्रदान करने के उद्देश्य से 10 वर्षीय समय चक्र में एक सार्वजनिक स्कूल प्रणाली विकसित करनी होगी।
- महिलाओं की समानता के लिए शिक्षा को पुनर्गठित करना होगा।
- क्षेत्रीय असमानता की समस्या का सामना करना होगा, जिसके लिए शैक्षिक एवं सामाजिक दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों को अतिरिक्त वित्तीय एवं बौद्धिक संसाधन देने होंगे।
- बच्चों को अपनी अभिव्यक्ति और उसकी सामाजिक पहचान को मजबूत करने एवं उसके सीखने की प्रक्रिया को सुलभ बनाने के लिए कम-से-कम शुरू के स्तरों में मातृभाषा को एक साधन के रूप में सुनिश्चित करना होगा।
- भारत की क्षेत्रीय भाषाओं के बीच में आदान-प्रदान का मार्ग प्रशस्त किया जाए।
- लोगों को काम के लिए समर्थ बनाने के उद्देश्य से शिक्षा के हर स्तर पर सभी विद्यार्थियों के लिए सामाजिक दृष्टि से उपयोगी एवं उत्पादक कार्य को उनके सीखने, उनमें सूझ-बूझ और समस्या निदान का कौशल विकसित करने और उनकी सृजनात्मकता बढ़ाने का प्रभावशाली माध्यम बनाना होगा।
- उच्च एवं तकनीकी शिक्षा की गुणवत्ता में सही अर्थों में सुधार करना आवश्यक हो गया है, जिससे कि ये न केवल हमारे आज के समाज के लिए सार्थक बनें, बल्कि उस समाज के लिए भी जो कल बनाना है।
- कालेज और विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम एवं शैक्षिक प्रक्रिया को आंचलिक विकास के मुद्दों और स्कूली शिक्षा के सुधार के साथ गतिशील एवं घनिष्ठ रूप से संबद्ध किया जाए।
- उच्च शिक्षा के स्तर पर समाज विज्ञान के शोध में व्यवस्थित रूप से क्रमिक विकास को बढ़ावा दिया जाए।
- प्रत्येक स्कूल, कालेज या विश्वविद्यालय की विशिष्ट सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुसार विषय वस्तु और अध्यापन में विविधता हेतु पूरी छूट दी जाए।
- मूल्यों की शिक्षा पूरी शिक्षण प्रक्रिया एवं स्कूली माहौल के एक अभिन्न अंग के रूप में विकसित होनी चाहिए।
- स्कूली शिक्षा को जिसे विविध सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों में करोड़ों के घरों तक पहुंचाने का दायित्व सौंपा गया है, उसे 'उच्च स्तरीय' नियोजन और प्रबंध के चंगुल से मुक्त कराना होगा।
- सरकार के अन्दर शैक्षिक प्रबंध के प्रश्न को अब इस पर्चे में प्रस्तावित विकेन्द्रित प्रबंध के परिप्रेक्ष्य में नए सिरे से देखने की जरूरत है। इसके लिए आवश्यक है कि ये उच्च स्तरीय एजेंसियां स्वयं ही मर्यादित व्यवहार करना सीखें।
- शिक्षकों का दर्जा एवं उनकी भूमिका, भर्ती, सेवा शर्तें एवं प्रशिक्षण के तमाम प्रश्नों को ताजी निगाहों से देखने की जरूरत है।
- शिक्षक एवं विद्यार्थी समुदाय के बीच बढ़ता हुआ तनाव संभवतः इस बात का लक्षण है कि समस्या निदान हेतु किसी समुचित प्रणाली का अभाव है। इस प्रश्न पर शिक्षण के विषयों की संख्या में प्रसार, उच्च शिक्षा का सर्वत्र फैलाव और उसके कारण कार्मिकों की बढ़ती हुई संख्या, प्रवेश के संबंध में द्वंद्व, परीक्षाओं में व्याप्त कुरीतियां आदि समस्याओं के संदर्भ में जांचने की जरूरत है।
- केन्द्र व राज्य दोनों के बजटों में शिक्षा के लिए कहीं अधिक मात्रा में आवंटन प्राप्त करना होगा। यह भी सुनिश्चित करने की जरूरत है कि संसाधन सामाजिक एवं क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने तथा शैक्षिक अवसरों को व्यापक बनाने के लिए अलग से उपलब्ध कराए जाएं।
- नई शिक्षा नीति, 1986 के अनुसरण में शुरू की गई चालू केन्द्रीय प्रायोजित योजनाएं मात्र दो वर्षों से प्रभावी रूप में क्रियान्वित हो रही हैं। ये योजनाएं वर्ष 1992-93 के अंत तक जारी रह सकती हैं। इन योजनाओं के क्रियान्वयन की उस समाप्ति के पहले समीक्षा करने की जरूरत होगी। कुछ भी हो, कोई भी नई केन्द्रीय प्रायोजित योजना तब तक शुरू न की जाए, जब तक कि वह हर स्तर पर और नीचे तक शैक्षिक प्रबंध को विकेन्द्रित करने की उद्देश्य पूर्ति के लिए न हो।
- स्वयंसेवी संगठनों व कार्यकर्त्ता समूहों को, लोगों की अपनी पहल और सामाजिक परिवर्तन लाने के इरादे की अभिव्यक्ति के रूप में देखने की जरूरत है। इनके काम का मूल्यांकन करने के लिए स्थानीय स्तर पर विकेन्द्रित तौर-तरीकों को भी विकसित करना होगा।
- शिक्षा को एक जन-आंदोलन के रूप में पुनर्गठित करना होगा, जिसमें केन्द्र और राज्य दोनों की एक सहायक एवं सुलभकारी भूमिका हो।
- 'शिक्षा के अधिकार' को मौलिक अधिकार बनाने की दृष्टि से संवैधानिक संशोधन की संभावना की जांच करने की जरूरत है।

निस्संदेह ये उद्देश्य प्रशंसनीय हैं। लेकिन उपरोक्त प्रपत्र में बड़े पैमाने पर निरक्षरता, विशेष रूप से हमारे ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापक अशिक्षा की समस्या के समाधान के बारे में कोई उल्लेख नहीं किया गया है। अब समय आ गया है जब हमें ग्रामीण समुदाय के लिए उचित साक्षरता कार्यक्रम शुरू करने

के लिए कदम उठाना चाहिए। जैसा कि 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति तैयार करने से पूर्व सरकार द्वारा 'अगस्त 1985 शिक्षा की चुनौती—एक नीति परिप्रेक्ष्य' नामक प्रपत्र में उल्लेख किया गया था कि इस शताब्दी के अंत तक भारत में लगभग 50 करोड़ लोग निरक्षर होंगे और उनमें से अधिकांश लोग हमारे ग्रामीण भारत में ही होंगे। इसलिए इन परिस्थितियों में सबसे जरूरी यह है कि हम प्रौढ़ शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए ठोस कदम उठाएं। ऐसा किए बिना तीव्र आर्थिक विकास संभव नहीं है। तीव्र आर्थिक और सामाजिक प्रगति में बराबर के भागीदार होने के लिए यह अत्यावश्यक है कि हमारे ग्रामीण लोगों को आज विश्व में हो रहे अनेकों वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय विकास के बारे में न केवल पूरी-पूरी जानकारी हो, बल्कि वे उनसे पूरा-पूरा लाभ भी उठा सकें। प्रौढ़ शिक्षा के अतिरिक्त निरन्तर महंगी होती जा रही शिक्षा, विशेष रूप से विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में, जो आज गरीब लोगों की पहुंच के बाहर है, बड़े पैमाने पर पब्लिक स्कूल संस्थाओं में उत्तरोत्तर वृद्धि और कई उन्नत देशों के लिए वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय कार्मिकों की आवश्यकता के लिए भारत का एक सुलभ बाजार बनना आवश्यक है। इन पहलुओं पर प्राथमिकता के आधार पर विचार किए जाने की अत्यंत आवश्यकता है। ग्रामीण क्षेत्रों के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए निम्नलिखित तथ्यों पर ध्यान अपेक्षित है।

प्राथमिक स्तर पर शिक्षा में सुधार

सामान्यतया ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करने वाले प्राथमिक स्तर के बच्चे अक्सर गरीबी, खराब सेहत, बाल मजदूरी की परिस्थितियों के कारण स्कूल नहीं जा पाते और पढ़ाई छोड़ देते हैं। देश में करीब 5 करोड़ बच्चे मजदूरी करने पर मजबूर होते हैं। लाखों बच्चे बेसहारा हैं या भटके हुए हैं। हमारी राष्ट्रीय साक्षरता दर करीब 30 प्रतिशत है और इक्कीसवीं शताब्दी के अंत तक दुनिया के कुल निरक्षरों में से आधे से अधिक भारत में होंगे। इस स्थिति से निपटने के लिए 1986 में एक बहुत उत्तम रिपोर्ट आई थी और इसमें बड़े उपयोगी सुझाव एवं सिफारिशें दी गई थीं परन्तु सरकार ने इस तरफ ध्यान नहीं दिया।

अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लक्ष्य की प्राप्ति में सबसे बड़ा व्यवधान विद्यालयों में न्यूनतम अनिवार्य भौतिक सुविधाओं की कमी का होना है। चौथे अखिल भारतीय शैक्षिक सर्वेक्षण के अनुसार देश के लगभग 88,000 प्राथमिक विद्यालय बिना उपयुक्त भवनों के संचालित हो रहे हैं। 1,92,000 से भी अधिक विद्यालयों में बैठने के लिए चटाई या फर्नीचरों का अभाव है। बिहार में बिना उपयुक्त भवनों वाले प्राथमिक विद्यालयों की संख्या सर्वाधिक 18,326 है, आंध्र प्रदेश में ऐसे 11,771 विद्यालय हैं तथा उत्तर प्रदेश में इनकी संख्या 11,319 है। बिहार में बिना चटाई या फर्नीचर वाले विद्यालयों की संख्या 21,505 है, मध्य प्रदेश में ऐसे 18,361 विद्यालय हैं तथा आंध्र प्रदेश में ऐसे 15,289 विद्यालय हैं।

संविधान में दर्शित लक्ष्यों को ध्यान में रखकर सन् 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में प्राथमिक शिक्षा की सार्वजनिकता को उच्च प्राथमिकता दी गई ताकि 14 वर्ष तक के सभी बच्चों को कम से कम आवश्यक शिक्षा प्राप्त हो जाए। इसके लिए खण्ड विभाजित अभियान प्रारम्भ हुआ, जिसका नाम 'ब्लैक बोर्ड अभियान' है। इसका लक्ष्य प्राथमिक पाठशालाओं के बुनियादी ढांचे को उन्नत बनाना है और प्राथमिक स्कूलों में अनिवार्य भौतिक सुविधाओं की व्यवस्था करना है। इस शब्द का प्रयोग यह बताता है कि यह अभियान अत्यावश्यक है। इसके लक्ष्य स्पष्ट तथा अच्छी तरह परिभाषित हैं तथा सरकार एवं जनता पूर्व निर्धारित समयावधि में उन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कटिबद्ध है।

'ब्लैक बोर्ड' अभियान के अंतर्गत प्राथमिक विद्यालयों में न्यूनतम आवश्यक साधनों के अंतर्गत दो बड़े कमरे, ब्लैक बोर्ड, मानचित्र, चार्ट, आवश्यक खिलौने एवं क्रीड़ा सामग्री तथा अन्य आवश्यक पाठ्य सामग्रियां उपलब्ध कराई जाएंगी। प्रत्येक प्राथमिक विद्यालय में कम-से-कम दो अध्यापक होंगे, जिनमें एक महिला होगी। धीरे-धीरे विद्यालय में अध्यापकों की संख्या उपलब्ध कक्षाओं के समानुपाती की जाएगी। वर्ष 1987-88 में इस योजना के लिए 100 करोड़ रुपये निर्धारित किए गए थे।

'ब्लैक बोर्ड अभियान' के अंतर्गत व्यापक एवं तीव्र प्रयासों की आवश्यकता है क्योंकि इस योजना की सफलता पर ही अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा के संवैधानिक लक्ष्य की प्राप्ति भी एक बड़ी सीमा तक निर्भर है। वर्ष 1988-89 में शिक्षा के लिए आवंटित 800 करोड़ रुपये में से 219 करोड़ रुपये इस योजना के लिए रखे गए थे।

अब सभी राज्यों और केन्द्र शासित क्षेत्रों में आठवीं कक्षा तक शिक्षा निःशुल्क है, मगर उत्तर प्रदेश में कक्षा 7-8 में केवल लड़कों को शुल्क भरना पड़ता है। अठ्ठारह राज्यों और तीन केन्द्र शासित क्षेत्रों—आंध्र प्रदेश, असम, गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू-काश्मीर, कर्नाटक, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, अंडमान निकोबार द्वीप समूह, चंडीगढ़ और दिल्ली में संविधान के निर्देशनों के अनुरूप अनिवार्य शिक्षा के लिए कानून बन चुके हैं। हिमाचल प्रदेश में इस अधिनियम के अंतर्गत समस्त प्राथमिक शिक्षा (कक्षा 1 से

8) आती है, बाकी राज्यों और केन्द्र शासित राज्यों में इस अधिनियम के अधीन प्राथमिक स्तर ही अर्थात कक्षा एक से पांच तक को सम्मिलित किया गया है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति में मेधावी छात्रों के लिए आवासीय स्कूलों को खोलने का प्रावधान है। इन स्कूलों को 'नवोदय विद्यालय' कहा जाता है। सातवीं योजना में देश के प्रत्येक जिले में ऐसे विद्यालय खोलने का प्रस्ताव रखा गया था तथा 256 स्कूल खोले जा चुके हैं और 1989-90 में 114 और खोले जाएंगे।

छात्रों की संख्या कक्षा क्रम में

कक्षा में संख्या (लाख में)	1950-51	1986-87
कक्षा 1 से 5	192	900
कक्षा 6 से 8	31	288
कक्षा 9 से 11-12	14	176
स्नातकोत्तर स्तर	2	34

प्रौढ़ शिक्षा का प्रचार-प्रसार आवश्यक

हमारे देश की कुल आबादी में प्रौढ़ों की संख्या 33 प्रतिशत है तथा यह वर्ग 15 से 35 वर्ष की आयु के बीच के लोगों का है। इनमें से 73 प्रतिशत प्रौढ़ ग्रामीण इलाकों में रहते हैं। देश की प्रगति के लिए इस वर्ग का शिक्षित होना आवश्यक है। तभी ये लोग विकास कार्यों में भागीदार बन सकेंगे।

प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम केवल प्रौढ़ शिक्षा विभाग का ही कार्य नहीं है, बल्कि यह एक राष्ट्रीय कार्यक्रम है। इस कार्यक्रम को सफल बनाने हेतु अधिकाधिक जन सहयोग की आवश्यकता है। भारत के प्रत्येक शिक्षित नागरिक का यह परम कर्त्तव्य है कि निरक्षरता का अभिशाप दूर करने में प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम को पूरा सहयोग प्रदान करे। निरक्षरता के कारण व्यक्ति, राष्ट्र और समाज का सक्रिय अंग नहीं बन पाता। किसी राष्ट्र के आर्थिक व सामाजिक पिछड़ेपन के विभिन्न कारणों में निरक्षरता एक प्रमुख कारण है। साक्षरता द्वारा राष्ट्रीय आय, प्रति व्यक्ति आय, औद्योगीकरण तथा कृषि उत्थान आदि प्रभावित होता है। नवीन बीस सूत्री कार्यक्रम का जो 16वां सूत्र है उसमें प्रौढ़ शिक्षा को विशेष महत्व दिया गया है।

आजकल प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम को संचालित करने के लिए 513 ग्रामीण प्रकार्यात्मक परियोजनाएं बनाई गई हैं। इनसे 500 स्वयंसेवी संस्थाएं, 40 श्रमिक विद्यालय, 78 विश्वविद्यालय एवं 2900 महाविद्यालय सम्बद्ध हैं। राष्ट्रीय स्तर पर प्रौढ़ शिक्षा बोर्ड और राज्य स्तर पर राज्य स्तर बोर्ड भी स्थापित किए गए हैं।

नई शिक्षा नीति, 1986 के अनुसार वर्ष 1987-88 के दौरान कार्रवाई योजना के अंतर्गत आने वाली सभी मुख्य योजनाओं का कार्यान्वयन आरम्भ किया गया। इनमें प्रौढ़ शिक्षा भी शामिल थी। वर्ष 1987-88 में केन्द्रीय शिक्षा क्षेत्र के लिए प्रदान की गई 800 करोड़ रुपयों की पूरी राशि परियोजनोन्मुख आधार पर प्रयुक्त की गई। वर्ष 1988-89 के लिए भी पिछले वर्ष के आधार पर ही 800 करोड़ रुपयों की धनराशि प्रदान की गई। 17-18 जून 1988 को राज्य शिक्षा सचिवों और निदेशकों का एक सम्मेलन आयोजित किया गया। इसमें विभिन्न योजनाओं के कार्यान्वयन की प्रगति की समीक्षा की गई और वर्ष 1988-89 के लिए वित्तीय और भौतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए नीतियां तैयार की गईं। केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड की बैठक भी 11-12 मार्च 1988 को नई दिल्ली में हुई थी, जिसमें राष्ट्रीय शिक्षा नीति के कार्यान्वयन की प्रगति की समीक्षा की गई। इस बोर्ड के आधीन 9 उप-समितियां कार्य कर रही हैं। जिन्होंने कई सिफारिशें कीं। इनमें प्रौढ़ शिक्षा के सम्बंध में प्रमुख सिफारिशें निम्न हैं :

- वर्ष 1988-89 के दौरान, पहले से व्याप्त अवस्थापना को समेकित और सुदृढ़ करना।
- राज्य प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम को ग्रामीण कार्यात्मक साक्षरता परियोजना की पद्धति के अनुरूप बनाना।
- स्वैच्छिक संस्थाओं को प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रम में शामिल करना।
- एक कुशल प्रबंध-पद्धति का विकास करना।

यह एक मानी हुई बात है कि केवल नीति-निर्धारण एवं कार्य योजना बनाने से ही किसी कार्यक्रम की सफलता सुनिश्चित नहीं की जा सकती, बल्कि इसके लिए योजनाबद्ध एवं ठोस सामयिक कार्यान्वयन की अत्यधिक आवश्यकता होती है। हमारे देश में सामान्यतया देखने में आता है कि जब कभी कोई नई योजना या नीति बनाई जाती है तो उसको बहुत ही सुन्दर शब्दावली में प्रस्तुत किया जाता है। उसका प्रचार-प्रसार भी अधिक किया जाता है। बहुत-सी योजनाएं कागज पर ही बनी की बनी रह जाती हैं। कुछ योजनाएं जो कार्यान्वित भी होती हैं तो वे भी कारगर ढंग से नहीं होती। इसलिए करोड़ों रुपये खर्च होने के बावजूद भी उसके आशाजनक परिणाम प्राप्त नहीं होते।

गांवों में अशिक्षा के साथ ही बेरोजगारी और निर्धनता भी अधिक है। गांवों के निर्धन एवं बेरोजगार लोगों को केवल बड़े-बड़े सिद्धांतों एवं आदर्शों की बातें सुनाकर ही संतुष्ट नहीं किया जा सकता। उनको समझना पड़ेगा कि साक्षर बनने से उनकी निर्धनता एवं बेरोजगारी में किस प्रकार से कमी होगी

तथा वे अपने शोषण के विरुद्ध आवाज उठा सकेंगे। इसके लिए भी अध्यापकों को उचित प्रशिक्षण देने की आवश्यकता है।

साक्षरता के प्रसार के लिए सबसे अधिक आवश्यक है—लोगों को प्रेरित करना। इसी प्रश्न के समाधान हेतु 'राष्ट्रीय साक्षरता मिशन' का गठन किया गया। इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षक निष्ठावान हों, पूर्ण प्रशिक्षित हों और गरीबों तथा निरक्षरों के साथ आत्मीयता एवं आदरपूर्ण व्यवहार कर सकें। साथ ही सीखने के वातावरण में सुधार हो, कक्षाओं में प्रकाश की व्यवस्था अच्छी हो तथा उपयुक्त अध्ययन सामग्री उपलब्ध हो। शिक्षा पाने वालों के मन में यह भावना उत्पन्न हो कि जो लोग कार्यक्रम चला रहे हैं, उन्हें हमारी चिन्ता है। सीखने की गति तेज हो। शिक्षार्थियों में यह विश्वास जगाया जाए कि उनमें सीखने की क्षमता है। उन्हें यह विश्वास दिलाया जाए कि साक्षरता शुरू में नीरस लगती है, बाद में नहीं। मनोरंजक, अध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक अध्यापन शैली इसके लिए अधिक कारगर सिद्ध हो सकती है।

सस्ती शिक्षा व्यवस्था स्थापित करना

ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा के प्रचार-प्रसार हेतु शिक्षा प्राप्ति के सस्ते साधनों का उपलब्ध होना आवश्यक है। देश के बहुत से कस्बों एवं देहातों में आज भी ऐसे स्कूल हैं, जहां बालकों को खुले आकाश के नीचे टाट और बोरी पर बैठकर पढ़ना पड़ता है। अधिकांश विद्यालय जर्जर अवस्था में हैं। ग्रामीण क्षेत्रों के गरीब असहाय अभिभावक इस हालत में नहीं होते कि वे अपने बच्चों को उच्च-स्तर के विद्यालयों में शिक्षा दिला सकें। दूसरी तरफ साधन सम्पन्न विद्यालय हैं, जिनमें बड़े-बड़े सम्पन्न घरानों के बच्चे पढ़ते हैं।

अतः ग्रामीण क्षेत्रों के निर्धन एवं असहाय बालकों को उच्च शिक्षा प्रदान करने हेतु निरन्तर महंगी होती जा रही शिक्षा व्यवस्था से ग्रामीण शिक्षा को मुक्त रखना होगा। इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षा का अविलम्ब राष्ट्रीयकरण किया जाए, जिससे सबको समान साधन व सुविधाएं प्राप्त हों। बड़े-बड़े कान्वेन्ट और सुविधा सम्पन्न विद्यालयों का खर्च इतना अधिक है कि आम ग्रामीण आदमी उसका वहन नहीं कर सकता। अतः कान्वेन्ट एवं सुविधा सम्पन्न विद्यालयों पर बंदिश लगाई जाए या इसी प्रकार के सुविधा सम्पन्न विद्यालय सरकार द्वारा खोले जाए और उसमें ग्रामीण क्षेत्रों के प्रतिभा सम्पन्न बालकों को निःशुल्क पढ़ाया जाए। पब्लिक स्कूल संस्थाओं के उत्तरोत्तर वृद्धि पर रोक लगाई जाए। विशेष रूप से विज्ञान एवं प्रौद्योगिकीय के क्षेत्र में निरन्तर महंगी होती जा रही शिक्षा का लाभ ग्रामीण छात्रों को प्राप्त नहीं होता। अतः सरकार द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकीय शिक्षा हेतु बड़े पैमाने पर महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों की स्थापना की जानी चाहिए एवं उसका सम्पूर्ण खर्च सरकार द्वारा वहन किया जाना चाहिए।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकीय शिक्षा का विस्तार

ग्रामीण विकास के लिए यह आवश्यक है कि जो शिल्प और उद्योग हमारे गांवों में सदियों से चलते आ रहे हैं, उन्हें उन्नत दिशा दी जाए। ग्रामीण कारीगर बगैर किसी यांत्रिक शक्ति और बाह्य ऊर्जा की मदद लिए सस्ते पदार्थों को ऐसी वस्तुओं में बदल लेते हैं जो देश और विदेश में बड़ी संख्या में बेची जा सकती है। अतः विज्ञान एवं प्रौद्योगिकीय शिक्षा का व्यापक प्रचार-प्रसार ग्रामीण क्षेत्रों में करके ग्रामीण निवासियों की आर्थिक स्थिति में सुधार लाया जा सकता है।

गांवों के विकास में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकीय महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। इसलिए हमारे वैज्ञानिकों का ध्यान गांवों की समस्याओं ने आकृष्ट किया है। उधर गांववासी खुद बेताब हैं। अपना जीवन स्तर उठाने के लिए वे कुछ करना तो चाहते हैं, लेकिन सही काम नहीं सूझता जबकि बहुत से क्षेत्र अभी ऐसे हैं जिसमें उपयुक्त प्रौद्योगिकीय का इस्तेमाल गांवों में किया जा सकता है।

प्रौद्योगिकियों की खोज एवं चयन के साथ-साथ उन्हें सीधे गांववासियों तक पहुंचाने का कार्य 'नेशनल रिसर्च डेवलपमेंट कारपोरेशन' कर रहा है। नए-नए अविष्कारों को व्यापारीकृत करने तथा उद्यमियों की हर सम्भव सहायता करने के साथ-साथ वह संस्था स्वयं प्रौद्योगिकियों का मूल्यांकन भी करती है।

हमारे दैनिक जीवन में विज्ञान के बढ़ते महत्व एवं उसकी आवश्यकता तथा सम्भावनाओं को देखते हुए विज्ञान एवं प्रौद्योगिक परिषद् उत्तर प्रदेश द्वारा ऊर्जा के वैकल्पिक साधनों एवं विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी प्रसार हेतु ग्रामीण क्षेत्रों में ऊर्जा तथा ग्रामीण प्रौद्योगिकी केन्द्रों की स्थापना का कार्य आरम्भ किया गया है ताकि आम जनता को नई से नई विभिन्न तकनीकों से अवगत कराया जा सके।

पब्लिक संस्थाओं की उत्तरोत्तर वृद्धि की रोकथाम आवश्यक

शहरों एवं ग्रामीण क्षेत्रों में पब्लिक स्कूलों जैसे—माण्टेसरी, कान्वेन्ट तथा अन्य साधन सम्पन्न स्कूलों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि का ग्रामीण छात्रों की शिक्षा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अतः पब्लिक स्कूलों की उत्तरोत्तर वृद्धि पर रोक लगाना आवश्यक है।

पब्लिक स्कूलों का संचालन निजी क्षेत्र के अंतर्गत समाज के धनी एवं साधन सम्पन्न लोगों द्वारा किया जाता है। इन स्कूलों

के संचालन का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थी को शिक्षा प्रदान करने के साथ-साथ धनोपार्जन करना एवं अपने धर्म विशेष का प्रचार करना भी है। ईसाई पादरियों द्वारा संचालित कान्वेन्ट स्कूलों में शिक्षा के साथ ईसाई धर्म के संस्कारों को भी बालकों के ऊपर डाला जाता है। इस प्रकार ये स्कूल शिक्षा के साथ-साथ धर्म प्रचार के उत्तम साधन हैं।

पब्लिक स्कूलों में पढ़ने वाले अधिकतर छात्र धनी एवं साधन सम्पन्न घरों से आते हैं। इन स्कूलों में लगने वाला शुल्क इतना अधिक होता है कि आम ग्रामीण जनता अपने बालकों को पढ़ाने में सक्षम नहीं है। अतः इन स्कूलों का लाभ ग्रामीण क्षेत्रों के निर्धन छात्रों को प्राप्त नहीं होता है।

पब्लिक स्कूलों की उत्तरोत्तर वृद्धि का कुप्रभाव ग्रामीण क्षेत्रों की प्राइमरी पाठशालाओं पर भी पड़ता है। इन पाठशालाओं का संचालन सार्वजनिक क्षेत्र के अंतर्गत प्रादेशिक सरकार द्वारा किया जाता है और इन पाठशालाओं में पढ़ने वाले छात्रों को कोई शुल्क नहीं देना पड़ता, किन्तु समाज में इन पाठशालाओं को पब्लिक स्कूलों जैसे कान्वेन्ट, माण्टेसरी आदि की तुलना में निम्न दृष्टि से देखा जाता है। अतः इन पाठशालाओं में पढ़ने वाले छात्रों में हीन-भावना उत्पन्न होती है।

अतः सरकार को इन पब्लिक स्कूलों की बढ़ती हुई संख्या पर रोक लगानी चाहिए। गांवों में स्थापित प्राइमरी पाठशालाओं की शिक्षा व्यवस्था में सुधार करना चाहिए ताकि इन पाठशालाओं में भी पब्लिक स्कूलों की भांति लिखने-पढ़ने की सुविधा ग्रामीण निर्धन छात्रों को भी प्राप्त हो सके। सरकार द्वारा यह भी सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि इन सुविधाओं के बदले ग्रामीण छात्रों से कोई अतिरिक्त शुल्क न लिया जाए।

विकसित देशों के लिए विज्ञान एवं प्रौद्योगिकीय कर्मियों की आवश्यकता हेतु भारत को एक सुलभ बाजार के रूप में विकसित करना

ग्रामीण क्षेत्रों के विकास के लिए विज्ञान एवं प्रौद्योगिकीय महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। ग्रामीण विकास के लिए यह अति आवश्यक है कि जो शिल्प और उद्योग हमारे गांवों में सदियों से चले आ रहे हैं, उन्हें उचित दिशा प्रदान की जाए। ग्रामीण कारीगर बिना किसी यांत्रिक शक्ति एवं वाह्य ऊर्जा की सहायता लिए सस्ते पदार्थों को ऐसी उपयोगी वस्तुओं में बदल देते हैं कि उनकी मांग देश एवं विदेश में की जा सकती है और इनका देश-विदेश में बड़े पैमाने पर व्यापार किया जा सकता है। इस प्रकार ये वस्तुएं विकसित देशों के लिए विज्ञान एवं प्रौद्योगिकीय कर्मियों की आवश्यकता हेतु एक सुलभ बाजार बन सकती है। इसके लिए ग्रामीण आवश्यकताओं के अनुरूप वैज्ञानिक अनुसंधानों को प्रोत्साहन देने के लिए राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विज्ञान प्रदर्शनी आयोजित की जानी चाहिए। राष्ट्रीय शैक्षिक एवं अनुसंधान परिषद् एवं शिक्षा विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा नवम्बर 1983 में इसी प्रकार की राष्ट्रीय विज्ञान प्रदर्शनी आयोजित की गई थी।

शिक्षा का व्यवसायीकरण आवश्यक

व्यवसायिक शिक्षा की वर्तमान प्रणाली विद्यार्थियों को व्यवसायिक धारा की ओर आकृष्ट करने में सफल नहीं हुई है। लोगों को काम के लिए समर्थ बनाने हेतु शिक्षा में बदलाव लाने का अर्थ मात्र बाजार के लिए उपयोगी कुछ कौशलों को विकसित करना नहीं है। शिक्षा की सम्पूर्ण प्रक्रिया में सामाजिक दृष्टि से उपयोगी काम और उत्पादक श्रम के प्रति सम्मान की एक संस्कृति विकसित करनी होगी। इसके फलस्वरूप केवल प्रासंगिक ज्ञान विकसित करने में ही नहीं, बल्कि ऐसी सृजनशील बुद्धि के विकास में भी मदद मिलेगी, जिसके आधार पर इन्सान जीवन भर सीख सकें। यही एक तरीका है, जिससे लोगों को काम के लिए समर्थ बनाया जा सकता है। शिक्षा की निर्णायक भूमिका विद्यार्थियों को रचनात्मक काम के लिए क्षमताओं के साथ लैस करने में है। विकासोन्मुख नियोजन प्रक्रिया को अमल में लाकर काम के नए अवसर उत्पन्न करने होंगे। मूल उद्देश्य यह है कि 'स्कूल की दुनिया' और 'काम की दुनिया' के बीच कारगर कड़ियां स्थापित की जाएं।

उपर्युक्त संदर्भ में शिक्षा के व्यवसायीकरण के पुनर्निर्माण हेतु निम्नलिखित संदर्भों पर ध्यान देना होगा :

- सामाजिक दृष्टि से उपयोगी उत्पादक काम को प्रारम्भिक स्तर पर स्कूली पाठ्यक्रम के एक अभिन्न अंग के रूप में शामिल किया जाना चाहिए।
- माध्यमिक शिक्षा को अकादमिक और व्यवसायिक धाराओं में बांटा नहीं जाना चाहिए।
- माध्यमिक शिक्षा को निम्न तथा उच्च स्तरों में विभाजित नहीं किया जाना चाहिए।
- माध्यमिक शिक्षा में भारी संरचनात्मक परिवर्तन किया जाए।
- स्कूलों द्वारा भाषा, गणित, विज्ञान तथा सामाजिक अध्ययन जैसे अकादमिक विषयों के साथ विभिन्न विषय समूहों में व्यवसायिक पाठ्यक्रमों का प्रावधान करना होगा।
- माध्यमिक स्तर पर स्वरोजगार या नौकरियों में सीधी भर्ती के उद्देश्य से जो विद्यार्थी व्यवसायिक या अन्य विषयों में, और यदि जरूरी हुआ तो सेतु पाठ्य श्रृंखलाओं द्वारा आगे की शिक्षा हेतु प्रावधान होगा।

- व्यवसायिक पाठ्यक्रमों की रूपरेखा इस प्रकार की होनी चाहिए कि विद्यार्थी आगे जाकर एक पेशे से दूसरे पेशे में जाने के लिए कुशल बने ताकि उनके जीवन में अधिकाधिक गतिशीलता सुनिश्चित की जा सके और वे तेजी से बदलती हुई तकनीक की मांगों के साथ बदलने में समर्थ हों।

ग्रामीण क्षेत्रों में दूर शिक्षा पर विशेष बल

दूर शिक्षा, वास्तव में विभिन्न शैक्षिक पृष्ठ भूमि वाले एवं विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में बिखरे शिक्षार्थियों की एक बड़ी संख्या को उनकी आवश्यकता के अनुरूप, उनकी सुविधा तथा गति से, ज्ञान कौशल एवं अभिवृत्ति प्रदान करने की एक विधा है जिसमें उच्च कोटि की अधिगम सामग्री के निर्माण हेतु उत्पादन तथा सम्प्रेषण में तकनीकी एवं प्रौद्योगिक माध्यमों का समुचित रूप से व्यापक प्रयोग किया जाता है।

भारत में दूर शिक्षा के इतिहास को देखें तो पाते हैं कि 1961 में कोठारी समिति का गठन पत्राचार शिक्षण की सम्भावनाओं एवं रूपरेखा निर्धारित करने के लिए किया गया था। तब यह अनुभव किया गया कि छात्र संख्या के भारी दबाव के कारण विश्वविद्यालय में गुणवत्ता वाली शिक्षा प्रदान करना कठिन हो रहा है। फलतः पत्राचार शिक्षण हेतु प्रथम पत्राचार पाठ्यक्रम 1962 में दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रारम्भ हुआ। जब पत्राचार शिक्षण के साथ दृश्यश्रव्य माध्यमों का अनुपूरक सामग्री के रूप में प्रयोग प्रारम्भ हुआ तब से पत्राचार शिक्षण को दूर शिक्षा के नाम से अभिहित किया जाने लगा। भारतीय संसद द्वारा सितम्बर 1985 में पारित एक अधिनियम के अंतर्गत इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इसकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों के निर्धन एवं असहाय छात्रों को उच्च शिक्षा प्रदान करना है। भारत में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में जो दूर शिक्षा संस्थान चल रहे हैं उनमें नामांकित छात्रों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। जिसे हम निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं :

उच्च शिक्षा की दूर शिक्षा संस्थाओं में छात्रों का नामांकन

वर्ष	नामांकित छात्र संख्या
1971-72	40753
1975-76	59445
1982-83	159712
1985-86	356646

दूर शिक्षा के माध्यम से उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले तथा परम्परागत विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने वालों की स्थिति निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट है :

परम्परागत विश्वविद्यालय तथा दूर शिक्षा संस्थानों में नामांकन 1982-83

संस्थान	नामांकित छात्र संख्या	प्रतिशत
परम्परागत विश्वविद्यालय	1336986	95.1
दूर शिक्षा	159721	4.9
योग	1496707	100.0

इस प्रकार कुल उच्च शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों में से 4.9 प्रतिशत छात्रों ने दूर शिक्षा से उच्च शिक्षा प्राप्त की।

हमारी शिक्षा पद्धति इस तरह की हो, जिसमें पूर्व की परम्परा तथा बुद्धिमता तथा पश्चिम की तकनीकी प्रगति के बीच समन्वय हो। यदि हमें आगे बढ़ना है तो मनुष्य को मानवता प्रदान करने वाली और राष्ट्र को सुराष्ट्र बनाने वाली शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। मूल्य आधारित शिक्षा प्रदान करने में जितनी देर करेंगे उतना ही हमारा राष्ट्र तेजहीन और समानता शून्य होगा। हमारा समाज बहुयामी समाज है, इसलिए शिक्षा के द्वारा शाश्वत मूल्यों का विकास होना चाहिए, जो अनेकता में एकता के भाव को पुष्ट करें। इन मूल्यों से धार्मिक अंधविश्वास, असहिष्णुता, असत्य, अकर्मण्यता का अंत करने में सहायता मिलेगी।

इस संघर्षात्मक भूमिका के साथ-साथ मूल्य शिक्षा का एक सकारात्मक पहलू भी है, जिसका आधार हमारी सांस्कृतिक विरासत, राष्ट्रीय लक्ष्य और सार्वभौमिक दृष्टि है, जिन पर विशेष ध्यान अपेक्षित है।

यह वर्तमान शताब्दी के लिए चुनौती है। हम 21वीं शताब्दी की ओर दौड़ रहे हैं, ऐसे में ज्यादा आवश्यक है कि हम अच्छे मानव के रूप में 21वीं शताब्दी में पदार्पण करें।

भूगोल विभाग
महाविद्यालय दूबेछपरा
बलिया, (उत्तर प्रदेश)-277205

शिक्षा नीति समीक्षा एवं बाल तथा प्रौढ़ शिक्षा

डा. बद्री विशाल त्रिपाठी

यह सर्वमान्य विश्वास है कि शिक्षा की सामाजिक विकास और सामाजिक रूपान्तरण में अत्यन्त प्रभावी भूमिका होती है। यह व्यक्ति में सामर्थ्य बढ़ाती है। उसकी उत्पादकता और आय अर्जन शक्ति बढ़ती है। यह लोगों के व्यक्तित्व और कृतित्व में गुणात्मक सुधार लाती है। इसलिए ही मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा में यह घोषित किया गया है कि सभी व्यक्तियों को लिंग, सम्प्रदाय, जाति एवं आर्थिक भेदभाव के बिना शिक्षा का अधिकार प्राप्त है। शिक्षा को मानव विकास की बुनियादी आवश्यकता मानते हुए, भारत में नीतिगत आधार पर उच्च प्राथमिकता दी जाती है। एक मानव अधिकार के रूप में तथा अधिक मानवीय और प्रबुद्ध समाज की ओर अग्रसर होने के साधन के रूप में शिक्षा को वरीयता दी जाती है तथापि भारत का दुर्भाग्य यह है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के 43 वर्षों के बाद भी देश के न तो समस्त नवागन्तुक साक्षर हो पा रहे हैं और न ही वय प्राप्त लोग। 1981 की जनगणना के अनुसार देश में कुल जनसंख्या के केवल 36.2 प्रतिशत लोग साक्षर थे। यदि देश को साक्षर और शिक्षित बनाना है, यदि शिक्षा व्यक्तित्व और कृतित्व के परिष्करण का एक प्रमुख साधन है तो 'सबको शिक्षा' का लक्ष्य पूरा किया जाना चाहिए। शिक्षा का प्रचार समाज सेवा का विषय मानकर प्रसंगवश नहीं करना है बल्कि इसे राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक महत्वपूर्ण औजार के रूप में देखना चाहिए।

भारत सरकार ने 1986 की शिक्षा नीति पर विचार करने के लिए 7 मई, 1990 को राष्ट्रीय शिक्षा नीति की समीक्षा समिति बनाई। समिति ने राष्ट्रव्यापी चर्चा के लिए अपना दृष्टिकोण रखते हुए शिक्षा के संदर्भ में परिप्रेक्ष्य पर्चा सितम्बर 1990 में जारी किया। समिति ने शिक्षा के सन्दर्भ में अपना दृष्टिकोण कुछ नवीन प्रवृत्तियों यथा काम का अधिकार जिसे संविधान में लिखने का प्रस्ताव है, राष्ट्र की एकता और अखंडता जो गंभीर खतरे में है और भारत के लोगों के दिलों में जो इंसान है वह सूखता जा रहा है, को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किया है। यह परिप्रेक्ष्य पर्चा शिक्षा के क्षेत्र में कई अभिनव उपागमों का सुझाव देता है। शिक्षा के अधिकार को मौलिक अधिकार में सम्मिलित करना, शिक्षा को जन-आंदोलन के रूप में पुनर्गठित करना, शिक्षा के लिए अधिक मात्रा में संसाधन आवंटन, सामाजिक जुड़ाव और राष्ट्रीय एकजुटता को मजबूती प्रदान करने के लिए सार्वजनिक स्कूल प्रणाली का विकास, सतत् मूल्यांकन, जो पढ़ाए वही मूल्यांकन करे, वही पाठ्यक्रम निर्धारित करे, शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर प्रवेश परीक्षा का आयोजन, लोचदार स्कूल प्रणाली एवं पाठ्यक्रम में क्षेत्रीय और राष्ट्रीय आवश्यकतानुसार सुधार आदि महत्वपूर्ण बिन्दुओं का इसमें सुझाव दिया गया है।

शिक्षा के क्षेत्र में दो चुनौतियां भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से ही विद्यमान हैं। वे हैं व्यापक निरक्षरता का उन्मूलन और शिक्षा की संरचना में गुणात्मक सुधार। किसी भी प्रयास का यह उद्देश्य होना चाहिए कि इन बिन्दुओं के प्रति उचित रीति-नीति का सुझाव दे। अत्यन्त सीधे-सादे रूप में यह कहा जा सकता है कि यदि कोई आयोग या समिति किसी विशेष पक्ष पर ही विचार करने के लिए न बनाई गई हो। इन दोनों समस्याओं पर अवश्य विचार करना चाहिए ताकि व्यापक निरक्षरता का उन्मूलन हो सके और शिक्षा सतत् परिवर्तनीय परिस्थितियों के प्रति प्रासंगिक बनी रहे। इस लेख में राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) समीक्षा समिति के बाल एवं प्रौढ़ शिक्षा सम्बन्धी दृष्टिकोण पर विचार किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि समिति ने विशेष सजगता शिक्षा में गुणात्मक सुधार के प्रति दिखाई है। इस आशय का विश्लेषण निम्नवत है।

बाल शिक्षा जिसे प्राथमिक शिक्षा भी कहा जाता है के संदर्भ में आज भी स्थिति यह है कि 6-14 वर्ष की आयु वर्ग के बच्चों में से लगभग 50 प्रतिशत ऐसे हैं जो या तो स्कूल नहीं जाते या प्रारंभिक स्तर पर ही स्कूल छोड़ देते हैं। यह अत्यंत खटकने वाली बात है कि मानव विकास की बुनियादी आवश्यकता शिक्षा पर अपेक्षिक सजगता क्यों नहीं दिखाई गई। सामाजिक और आर्थिक विकास की उपलब्धियों के तुलना में शिक्षा क्षेत्र अपर्याप्त निष्पादन स्पष्ट ही है। उद्देश्य पर्चा इस पक्ष में अधिक स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता कि शिक्षा को कैसे सार्वभौम

बनाया जाए। किन प्रोत्साहनात्मक एवं प्रतिबंधक उपायों का आश्रय लिया जाए कि आगामी वर्षों में सभी बच्चों, जो 6-14 वर्ष के आयु वर्ग में है, को साक्षर बनाया जा सके। इस संदर्भ में समीक्षा समिति अपने परिप्रेक्ष्य पर्चा में एक लोचदार स्कूल प्रणाली की संस्तुति करती है।

संभव है कि इस उपाय से बच्चों के साक्षरता अनुपात में वृद्धि हो, बच्चे स्कूल जाने के प्रति अधिक लालायित हों। स्कूल की बन्धनकारी लीक से मुक्ति उन्हें पढ़ने के लिए प्रेरित करें परन्तु बाल निरक्षरता के कई अन्य कारण भी हैं जिस पर विचार करने की आवश्यकता है। स्कूली प्रणाली को लोचशील बनाने से अधिक आवश्यक है उन आधारभूत कारणों का निदान जो लगातार अवरोध उत्पन्न करते आए हैं। अभिभावक जो समर्थ हैं, यह नहीं चाहते कि उनका बालक केवल खाली समय में पढ़े बल्कि वे चाहते हैं कि उनका बालक अपने अधिकतम समय का उपयोग पढ़ाई के लिए करे।

बाल निरक्षरता का एक अत्यन्त प्रमुख कारण बाल श्रमिक की क्रियाशीलता है। बच्चे, जब उनकी वय पढ़ने, सीखने और खेलने की होती है, अपने मालिकों को कार्य से खुश करते हैं। वे कई ऐसे जोखिम वाले कार्यों में भी लगाए जाते हैं जो संविधान की ओर से बच्चों के लिए सर्वथा वर्जित हैं। यह अनुमान है कि 6-14 वर्ष की आयु वर्ग के लगभग 17 मिलियन बच्चे विभिन्न कार्यों में बाल श्रमिक के रूप में कार्य करते हैं। यह अनुमान है कि कुल श्रम शक्ति में लगभग 6 प्रतिशत बाल श्रमिक हैं। कुछ अध्ययनों ने तो यह कहा है कि बाल-श्रमिकों की संख्या लगभग 44 मिलियन है। यदि बाल-श्रम की यही स्थिति बनी रहती है तो सभी बच्चों का स्कूल जाना और अगली शताब्दी आने तक भी साक्षर भारत की परिकल्पना मिथ्या लगती है। बाल श्रमिक की समस्या का कारण है अभिभावकों की कमजोर आर्थिक स्थिति। बच्चे अपने परिवार की आय में अत्यन्त कम आयु से ही योगदान करने लगते हैं और निरक्षर रहना उनके जीवन का सत्य बन जाता है। निरक्षरता और बाल श्रम में अत्यन्त ऊंचा सकारात्मक सम्बन्ध है। यहां प्रतिबन्धात्मक कार्यवाही की आवश्यकता है ताकि नियोक्ता चाहे असंगठित निर्माण कार्यों के हों या कृषक सुकुमार आयु के बच्चों को कार्य पर न लगा सकें। यदि उच्च अधिकार प्राप्त समितियों और शीर्षस्थ विद्वानों द्वारा बाल-श्रम की समस्या का विरोध न होगा तो यह कलुषित दाग हमारे समाज पर बना रहेगा और निरक्षरता की श्रृंखला लगातार मजबूत होती जाएगी। कम-से-कम यह संस्तुति तो लगातार की ही जानी चाहिए कि बच्चों को जोखिम वाले और स्वास्थ्य पर कुप्रभाव डालने वाले कार्यों में न लगाया जाये और संविधान की इस मनोभावना का कड़ाई के साथ पालन किया जाना चाहिए।

योजनाकाल में विशेषकर गरीबी निवारण के प्रत्यक्ष कार्यक्रमों की क्रियाशीलता के बाद ग्रामीण और नगरीय गरीबी की स्थिति में कुछ सुधार आया है। वे अपने बच्चों को गांव के निकट या गांव में ही स्थित पाठशालाओं में शिक्षा के लिए भेज सकते हैं। प्राथमिक पाठशालाओं की संख्या में वृद्धि होने के कारण अब प्रत्येक बच्चे को एक किलोमीटर दूरी के अंदर ही प्राथमिक पाठशाला उपलब्ध हो गई है। इन दोनों सकारात्मक कारकों के बाद भी अभिभावक अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेजते हैं। इस तटस्थता का कारण है, उत्प्रेरक प्रयासों की कमी। ग्रामीण और नगरीय क्षेत्र में ऐसे बहुत-से परिवार देखे गए हैं जिन्हें सम्यक रूप से प्रेरित किया जाए तो वे अपनी वर्तमान आर्थिक स्थिति पर ही बच्चे को स्कूल भेज सकते हैं। इसके लिए आवश्यकता यह है कि प्रत्येक पाठशाला में या कुछ पाठशालाओं के समूह के लिए कम-से-कम एक अध्यापक की नियुक्ति की जाए जिसका कार्य यह रहे कि वह अभिभावकों को प्रेरित करे ताकि वे अपने बच्चों को स्कूल भेजें। इस प्रकार के उत्प्रेरणात्मक घटक के लिए कोई अन्य अधिक सशक्त माध्यम भी सोचा जा सकता है, परन्तु इसके प्रति परिप्रेक्ष्य पर्चा तटस्थ-सा प्रतीत होता है।

समीक्षा समिति ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि निर्धन तबकों के लिए तुलनात्मक गुणवत्ता की शिक्षा का प्रावधान संभव नहीं हुआ है और सम्पन्न तबकों की पैठ निजी तौर पर चलने वाली महंगी संस्थाओं में उपलब्ध शिक्षा तक है। निरक्षरता, पिछड़ेपन और अल्प सुविधा वाले स्कूलों के बीच कतिपय निजी खर्चीले स्कूलों, जो सागर में द्वीप के भांति हैं, जो केवल सम्पन्न वर्ग की आवश्यकताओं के पोषक हैं, को सार्वजनिक स्कूल प्रणाली के दायरे में लाने की संस्तुति वस्तुतः स्वागत योग्य है। किसी भी पाठ्यक्रम में ऊंची ट्यूशन फीस एवं कैपिटेशन फीस के आधार दिए जाने वाले प्रवेश रोके जाने चाहिए। इस सम्बन्ध में परिप्रेक्ष्य पर्चा का दृष्टिकोण सर्वथा प्रशंसनीय है। मेधावी और गरीब छात्रों के लिए छात्र-वृत्तियां अत्यन्त कम हैं, जो छात्र-वृत्तियां विद्यमान हैं उनका वास्तविक मान कीमत वृद्धि के कारण अत्यन्त कम हो गया है। गरीब परिवारों से आने वाले बच्चों को अतिरिक्त छात्र-वृत्तियां बढ़ाई जानी आवश्यक हैं। इससे अप्रत्युक्त रह जाने वाली प्रतिभा का उपयोग हो सकेगा और शिक्षा जगत की द्वैधता समाप्त होगी जिसका आधार केवल सम्पन्नता और विपन्नता है।

बाल निरक्षरता की भांति दूसरी अति गंभीर समस्या प्रौढ़ निरक्षर की है। सामान्यतः 15 से 35 वर्ष के आयु वर्ग के लोगों

को प्रौढ़ माना जाता है। सातवीं पंचवर्षीय योजना की रिपोर्ट में यह उल्लेख किया गया है कि देश में लगभग 90 मिलियन लोग ऐसे निरक्षर हैं जो प्रौढ़ों की कोटि में आते हैं। इनको साक्षर बनाना, पढ़ने-लिखने योग्य बनाना सरकार का कल्याणकारी दायित्व है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से लेकर अब तक किसी न किसी रूप में प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रम चलाए गए हैं। इन कार्यक्रमों में काफी बड़ी धनराशि खर्च हुई है। इसके लिए अवस्थापना निर्मित की गई और कर्मचारी नियुक्त किए गए। इनके साथ लगातार चलने वाले कार्यक्रमों के बाद भी इस स्तर तक प्रौढ़ निरक्षरता का बना रहना अत्यन्त शर्मनाक बात है। यह हमारे प्रयासों के प्रति प्रश्न चिह्न लगाता है और उसके प्रति संदेह उत्पन्न करता है। प्रौढ़ों की भी अपनी जिन्दगी है। वे समाज के सृजन में, निर्माण में योगदान करते हैं। यह हमारा दायित्व है कि हम उनके जीवन के अन्धकार को मिटाएं, उन्हें साक्षर बनाएं ताकि वे सामाजिक, औद्योगिक एवं वैज्ञानिक प्रगति से अछूते न रह सकें। इसलिए इस समस्या पर विस्तार से सोचने और अवरोधक तत्वों के निदान की आवश्यकता है, सम्यक रीति-नीति पर अमल की आवश्यकता है।

प्रौढ़ शिक्षा के संदर्भ में समीक्षा समिति की मनोभावना का आभास उसके इस कथन से होता है, "यह जरूरी नहीं है कि प्रौढ़ों के मामले में पढ़ने और लिखने की असमर्थता का अर्थ उनमें शिक्षा की कमी ही हो। एक निरक्षर व्यक्ति में भी जीवन की परिस्थितियों के लिए आवश्यक गणितीय कौशल हो सकता है और अत्यन्त विकट हालातों से जूझने के लिए उच्च कोटि की संवेदनशीलता और क्षमता हो सकती है...इसलिए प्रौढ़ साक्षरता को शिक्षा का पर्याय मानकर उस पर बल देने की कोशिश उचित नहीं होगी। साफ बात तो यह है कि निरक्षर व्यक्ति जरूरी नहीं कि अशिक्षित व्यक्ति हो। यहां हमारा उद्देश्य निरक्षरता को रूमानियत में रंगना नहीं है, बल्कि प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के सार्थक ढंग से पुनर्निर्माण की जरूरत को रेखांकित करना है। इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि यह सुनिश्चित किया जाए कि दशक में सब बच्चे स्कूली शिक्षा पा जाएं ताकि वे बड़े होकर अगले दशक में निरक्षरों की संख्या न बढ़ाएं।" स्पष्टतः उद्देश्य अधिक जरूरी मानता है, बच्चों की स्कूली शिक्षा का प्रसार। समिति ने प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के किसी सार्थक ढंग की भी चर्चा नहीं की है।

तीव्र आर्थिक विकास और आर्थिक तथा सामाजिक प्रगति में सभी लोगों की सहभागिता बढ़ाने के लिए प्रौढ़ शिक्षा के ठोस कार्यक्रम की आवश्यकता है। समयबद्ध आधार पर प्रौढ़ साक्षरता का लक्ष्य पूरा किया जाना चाहिए। समिति का यह सुझाव कि प्रौढ़ शिक्षा का विषय वस्तु और प्रक्रिया को प्रौढ़ साक्षरता से अलग मानकर कार्य नीति बनाई जाए और जब प्रौढ़ सहभागी साक्षरता की जरूरत अपने अंदर महसूस करें तब साक्षरता को जोड़ देना चाहिए, समीचीन तो लगता है। परन्तु इसी प्रकार के परीक्षणात्मक अनुभवों में अब तक लगभग आधी शताब्दी का समय निकल चुका है पर समस्या जहां की तहां है अब आवश्यकता यह है कि प्रौढ़ शिक्षा की जो संरचना उपलब्ध है उसे अधिक चुस्त और समर्थ बनाया जाए। भारत में बहुत-सी योजनाओं के अल्प निष्पादन का कारण उनके क्रियान्वयन में शिथिलता या रिसाव होता है। इस दिशा में प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों को देखना चाहिए। स्वैच्छिक संस्थाएं प्रौढ़ साक्षरता बढ़ाने में सहायक हो सकती हैं यदि इन संगठनों को सम्यक सहायक सामग्री और उपस्कर उपलब्ध कराए जा सकें। स्वैच्छिक संगठन भी इसके प्रति अभिरुचि प्रसंगवश न दिखाए बल्कि प्रौढ़ साक्षरता वृद्धि को राष्ट्रीय जरूरत मानें।

शिक्षा जगत में बहुधा ऐसे निर्णय लागू कर दिए जाते हैं जिन्हें थोड़े समय में ही वापस ले लिया जाता है यथा कभी सपुस्तक परीक्षा प्रणाली, तो कभी पुस्तक रहित, कभी नैतिक शिक्षा को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करना, तो कभी उसको हटाया जाना, कभी सतत् आन्तरिक मूल्यांकन, तो कभी वार्षिक परीक्षा। इसी प्रकार के अन्य प्रयोगों की भी सूची बनाई जा सकती है। शिक्षा नीति समीक्षा समिति शिक्षण के एक अभिन्न अंग के रूप में सतत् मूल्यांकन का प्रस्ताव करती है। यह प्रक्रिया गिने-चुने संस्थानों के लिए सीमित उपादेयता वाली हो सकती है लेकिन सर्वत्र की शिक्षा के संदर्भ में यह प्रयास सर्वथा अव्यावहारिक होगा। जब विद्यार्थी को एक स्तर से दूसरे स्तर में जाने के लिए प्रवेश परीक्षा देनी है, जब नियोजक एजेंसियों को अपनी-अपनी परीक्षण प्रणालियों के निर्माण की छूट है, जहां विद्यार्थी का मूल्यांकन वे करेंगे जो उन्हें प्रत्यक्ष रूप से पढ़ाते नहीं हैं। यदि इनके लिए विद्यार्थी को तैयार करना है तो सेमेस्टर या वार्षिक परीक्षाएं ही रखी जाएं और अनुक्रमांक हटाकर उसके स्थान पर अनिवार्यतः संकेतांकों का प्रयोग किया जाना चाहिए। अंततः यह आवश्यक है कि शिक्षा क्षेत्र के लिए सार्वजनिक व्यय का प्रतिशत बढ़ाया जाए। योजना जगत व्यय शिक्षा का हिस्सा पहली योजना के 7.86 प्रतिशत से घटकर सातवीं योजना में 3.55 प्रतिशत रह गया। यह अत्यन्त खटकने वाली बात है। प्राथमिक शिक्षा पर तो अपेक्षाकृत अधिक व्यय की आवश्यकता है।

78/3, बांध रोड, एलनगंज,
इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश)

शिक्षा प्रणाली में नागरिकों की सहभागिता

डा. अजित कुमार गौड़

अपने धन की शक्ति के बल पर और अवैधानिक अस्त्र-शस्त्र के बल पर कुछ स्वार्थी तत्वों ने ऐसी परिस्थिति में देश को लाकर खड़ा कर दिया है, जिसे सुधारना भगीरथी तपस्या-सी दिखती है। जहां अंधा देखने लगे, गूंगा बोलने लगे और लंगड़ा दौड़ने लगे, वहां अंधे, गूंगे और लंगड़े का इलाज किस नुस्खे से हो। शायद ऐसे ही लोगों का समाज, यह देश है। यहां करके देखे, मानकर देखें जैसी धारणा नहीं, बल्कि यह धारणा है कि हम मानेंगे नहीं, हम होने देंगे नहीं। तो फिर हम-आप सब मिलकर सोंचे कि होगा कैसे? यह एक चुनौती है!

गुलाम भारत के लोग जब यह महसूस करने लगे कि देश आजाद कराना है, तो कुछ लोगों ने अंग्रेजों के विरोध में अस्त्र-शस्त्र उठा लिए। आजादी पाने को आतुर व्यक्तियों को सही मार्ग दर्शन करने हेतु जब नायक मिल गए तो उन्होंने महसूस किया कि जब तक सभी भारतीयों, भारत में रहने वाले सभी समाजों, सम्प्रदायों के विचार एक-से नहीं हो जाते, जब तक एक-दूसरे को समझने और उनमें मिलनसारी नहीं आ जाती तब तक अंग्रेजों के विरोध में खड़ा होना बचपना है। जब हम अपने प्रयासों में सफल हुए तो अस्त्र-शस्त्र रहित अहिंसक, बिना वर्दी के सिपाही आजादी पा गए।

आज भारत की एकरूपता, राष्ट्रीयता दिखलाई दे, उसके लिए जरूरी है लोगों को पुनः 'कर्त्तव्य-बोध' कराने की। राष्ट्रपति सर्वपल्ली डा. राधाकृष्णन, जो महान शिक्षाविद् थे, ने कहा था कि 'इस विश्व को अनपढ़ लोगों से उतनी हानियां नहीं हुई जितनी पढ़े-लिखे लोगों से।' ठीक उसी प्रकार 'इस देश को अबोधों, अशिक्षितों, अंधविश्वासियों, मजहबियों और गरीबों से उतनी हानियां नहीं हुई, जितनी कुर्सीधारियों समाज के ठेकेदारों और नेताओं से।'

'कर्त्तव्य-बोध' किसी भी व्यक्ति के भीतर का इतना सार-गर्भित, धार्मिक, शैक्षणिक, राष्ट्रीय और मानवीय संवेदन-शीलता है जो व्यक्तित्व की परिधि में व्यक्ति को तथा मनुष्यत्व की परिधि में मनुष्य को प्रतिष्ठित करता है। लोगों में 'कर्त्तव्य-बोध' है तो वह बिना धर्म का धार्मिक है, बिना शिक्षा का शिक्षित और इसी 'कर्त्तव्य-बोध' के लिए आज आवश्यकता है शिक्षा की क्योंकि प्रतियोगितावादी बाजार में प्रतियोगिता के लिए, मानवता के लिए और राष्ट्रीयता के लिए सभी नागरिकों को एक वैज्ञानिक शिक्षा प्रणाली के तहत अनिवार्य रूप से शिक्षित होना है। जिस प्रणाली में जाति, वर्ग, धर्म, भाषा और क्षेत्रभेद न हो।

शिक्षा में आमूल परिवर्तन

शिक्षा की कोई भी प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिए कि वह किसी राष्ट्र के मानसिक-आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। भारत में हम लोग अपनी शिक्षा-प्रणाली के दोषों से पूर्णतथा परिचित हैं। यह शिक्षा-प्रणाली हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती, वरन् यह एक बड़ा भारी नुकसान कर रही है। हमारे शिक्षितों को यह व्यक्तिगत और सामाजिक उत्तरदायित्व के भार को वहन करने में सर्वथा असमर्थ कर देती है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि हमारे स्कूलों और विश्वविद्यालयों की शिक्षा एकदम व्यर्थ है। विज्ञान, इतिहास और साहित्य जोकि हमारे शिक्षालयों में पढ़ाए जाते हैं, वे सब किसी भी सभ्य राष्ट्र के लिए आवश्यक हैं। लेकिन हमारी शिक्षा में एक बहुत बड़ा दोष यह है कि यह शिक्षितों को शारीरिक श्रम करने के लिए बिलकुल अयोग्य बना देती है। शिक्षित पुरुष शारीरिक श्रम को अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझता है। अपने समाज में हम आलसियों की पूजा करते हैं, अर्थात् हम ऐसे शिक्षित पुरुष चाहते हैं जो सब प्रकार के शारीरिक श्रम को घृणा की दृष्टि से देखता है और अपने छोटे-मोटे व्यक्तिगत कामों के लिए भी नौकर पर निर्भर करता है।

शारीरिक श्रम

इस सम्बन्ध में हमें शिक्षा-सम्बन्धी पहला सुधार यह करना है कि लोगों के मस्तिष्क पर शारीरिक श्रम के महत्व की छाप डाल दें। शारीरिक श्रम को अनिवार्य विषयों के समान पाठ्यक्रम का एक अंग बनाना पड़ेगा। किसी भी विद्यार्थी को प्रारम्भिक वर्ग से लेकर विश्वविद्यालय तक तरक्की नहीं मिलनी चाहिए, जब तक वह शारीरिक श्रम के विषय में उत्तीर्ण न हो ले।

प्रत्येक आदमी शिक्षा के महत्व को समझता है, अतएव अगर लोग इसके लाभ से शारीरिक श्रम न करने के कारण वंचित कर दिए जाएं तो वे शारीरिक श्रम करने के लिए बाध्य होंगे। इस शारीरिक श्रम से किसी को छुटकारा नहीं मिलना चाहिए, यदि उसके अवयवों में कोई दोष न हो। शारीरिक श्रम जमीन खोदने और बोझा ढोने के रूप में रहना चाहिए। विद्यार्थियों की उम्र के मुताबिक हरेक वर्ग को हरेक सप्ताह में किन्हीं नियत घण्टों तक शारीरिक श्रम करना चाहिए। शिक्षा-विभाग के अधिकारियों को इसका सन्तोष होना चाहिए कि जो विद्यार्थी उत्तीर्ण होते हैं, वे सच्चाई से अपना नियत शारीरिक श्रम करते हैं और कर सकते हैं। शिक्षक और छात्र परीक्षकों को धोखा नहीं दे सकते, क्योंकि अभ्यास डाले बिना प्रतिदिन आधे घण्टे तक जमीन खोदना कठिन है। हम लोगों के बहुत-से शिक्षित पुरुष कृषि का कार्य अथवा ऐसा ही अन्य कार्य जिसमें शारीरिक श्रम की आवश्यकता है, नहीं कर सकते, क्योंकि अपने सम्पूर्ण छात्र-जीवन में वे कठिन शारीरिक श्रम से बिलकुल दूर रहते हैं। साप्ताहिक शारीरिक श्रम के अतिरिक्त माध्यमिक स्कूलों और कालेजों में हर साल एक महीने का परिश्रमपूर्ण कैम्प-जीवन हो। इस प्रकार के कैम्प-जीवन से छात्रों को बहुत-सी शिक्षाएं मिल सकती हैं। इन कैम्पों में छात्र और मजदूर एक ही प्रकार का जीवन बिता सकेंगे और एक-दूसरे के भावों को समझेंगे। निस्संदेह यह सब खर्च सरकार ही वहन करती है और इस श्रम को सड़क बनाने अथवा दूसरे प्रकार के सर्वसाधारण के उपयोगी कामों में लगाया जा सकता।

कृषि-शिक्षा

हम लोग इस बात को जानते हैं कि खेती की अवस्था इस देश में बिलकुल प्रारम्भिक है। हम लोगों के पास कुछ कृषि-कालेज हैं, जिनमें कृषि विद्या का अध्ययन होता है। लेकिन अभी तक हमने अपनी कृषि में विशेष वैज्ञानिक सुधार नहीं किया है। हम इसके लिए कृषकों की रूढ़ियों को दोष देते हैं। बेशक कृषक रूढ़ि-प्रेमी हैं, लेकिन ऐसे रूढ़ि-प्रेमी कृषक हर देशों में पाए जाते हैं किन्तु साधारण समझ का किसान भी अपने आर्थिक लाभ को अवश्य समझ सकता है। सच बात तो यह है कि यूरोप और अमेरिका में जो प्रणालियां प्रचलित हैं, उनको हम अपने देश में व्यवहार में नहीं ला सकते क्योंकि हमारे किसानों के पास न तो उतनी जमीन है और न उतना मूलधन है। अतएव हमें आधुनिक कृषि-शिक्षा को कृषि-स्कूल से प्राप्त करना बहुत उचित होगा। कृषि-कालेज में प्रवेश पाने के लिए हमारे यहां विद्यार्थियों को कम-से-कम इंट्रेंस पास होना चाहिए। इसका नतीजा यह होता है कि जो कोई कृषि-कालेज से भी शिक्षा प्राप्त करता है, नौकरी के ही वह पीछे परेशान रहता है। ऐसा कोई प्रबन्ध नहीं है कि थोड़े ही दिनों में किसानों को कुछ उपयोगी बातें बता दी जाए और इन सीखने वालों को जहां तक हो सके कम शिक्षा प्राप्त कर प्रवेश पाने पर रोक लगा दी जाए और प्राइमरी शिक्षा काप्रबन्ध इस प्रकार किया जाए कि छह वर्ष का पाठ्यक्रम समाप्त करके छात्र कृषि-स्कूल में भर्ती हो सकें।

इस प्रणाली में नवीनता लाते हुए हमें खर्च पर भी ध्यान देना चाहिए। अगर इसका खर्च बहुत ज्यादा होगा तो इससे कृषक आकर्षित कदापि न होंगे। मैं कृषि-सम्बन्धी सिद्धान्तों की शिक्षा की निन्दा नहीं करता। लेकिन व्यावहारिक शिक्षा की आवश्यकता बहुत बड़ी है। इस अभिप्राय से हम लोगों को हरेक जिले में एक कृषि-स्कूल चाहिए, जिसमें चार वर्ष का पाठ्यक्रम रहे और नियमित छात्रों के अतिरिक्त थोड़े समय के लिए विशेष विषयों का पाठ्यक्रम सर्वसाधारण कृषकों के लिए भी रहे। नवीन प्रणालियों का अन्वेषण इस शिक्षा का प्रधान भाग होना चाहिए। यह शिक्षा तब तक उपयोगी न होगी, जब तक सस्ती कृषि के लिए खाद और चुने हुए बीज हमें आसानी से न मिल सकें। इसके लिए कुछ देशी कारखाने संस्थापित होने चाहिए।

उद्योग-धन्धों की शिक्षा

भारत जैसे घनी आबादी वाले देश की मुक्ति उसके कल-कारखानों की उन्नति पर निर्भर करती है। हरेक कमिश्नरी में एक औद्योगिक स्कूल चार वर्ष के पाठ्यक्रम का अवश्य रहना चाहिए। ऐसे स्कूलों में भर्ती होने के लिए विद्यार्थियों को मिडिल पास होना चाहिए। इनमें विषयों की शिक्षा स्थानीय आवश्यकता के अनुकूल होनी चाहिए।

प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा

बिना विलम्ब के निःशुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा लड़के और लड़कियों के लिए शुरू कर देनी चाहिए। आवश्यक रुपये के लिए हम लोगों को चन्दा मांगना या उधार लेना चाहिए, क्योंकि प्रारम्भिक शिक्षा नागरिकता का आवश्यक गुण है। इसके बिना सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक उन्नति के सब प्रयत्न बेकार होंगे। लड़के और लड़कियों के लिए पृथक स्कूल का निर्माण खर्च को दुगना कर देगा। छह से बारह वर्ष तक सहशिक्षा में किसी को एतराज नहीं होगा। भाषा, व्याकरण और हिसाब तथा दूसरे विषयों की शिक्षा के साथ हम लोगों को शारीरिक श्रम की शिक्षा भी अवश्य प्रारम्भ कर देनी चाहिए। इनमें धार्मिक शिक्षा की कोई जरूरत नहीं, किन्तु नैतिक और राष्ट्रीय शिक्षाएं उन्हें ऐसी मिलनी चाहिए जो उन्हें राष्ट्रीयता सिखा सकें। अंग्रेजी अनिवार्य दूसरी भाषा

रहे, परन्तु दूसरे विषयों की शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से हो। प्राचीन भाषाओं की पढ़ाई पर विशेष जोर न दिया जाए किन्तु विद्यार्थियों को गणित और विज्ञान को अतिरिक्त विषय के रूप में लेने के लिए उत्साहित किया जाए।

विश्वविद्यालय की शिक्षा

हमारी यह शिक्षा अधिक-से-अधिक उपयोगी विज्ञान के ज्ञान में वृद्धि करे, इसके लिए हमें विज्ञान का सैद्धांतिक अध्ययन करना चाहिए लेकिन व्यावहारिक विज्ञान का ज्ञान हम विशेष रूप से प्राप्त करें। विज्ञान की शिक्षा के लिए किसी राष्ट्र को हर विद्यार्थी पर कुछ रुपये खर्च करने पड़ते हैं। अतएव विज्ञान के स्नातकों को वकालत में प्रवेश करके इन रुपयों का अपव्यय नहीं करना चाहिए। प्रोफेसर की नियुक्ति स्पर्धामय-परीक्षाओं से होनी चाहिए। शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओं में जाति या वर्ग का भाव लाना बहुत ही हानिकारक होगा। आनर्स और पोस्ट ग्रेजुएट क्लासों की शिक्षा उन्हीं प्रोफेसरों से दिलानी चाहिए जो अपने विषयों में कुछ मौलिक अन्वेषण कर रहे हों। यदि कोई अध्यापक मौलिक लेख किसी प्रामाणिक पत्र में नहीं प्रकाशित कराता हो तो उसे उन क्लासों के पढ़ाने का अधिकार नहीं होना चाहिए। प्राचीन भाषाओं की शिक्षा के लिए अंग्रेजी जानने की आवश्यकता पर जोर नहीं देना चाहिए। पुराने ढंग का पण्डित या मौलवी अपने विषय को किसी एम. ए. से अधिक योग्यतापूर्वक पढ़ा सकता है और अंग्रेजी के माध्यम द्वारा संस्कृत पढ़ाने का कोई अर्थ नहीं। मैं इस बात को समझता हूं कि पुराने ढंग से पंडित या मौलवी ऐतिहासिक और वैज्ञानिक पहलू में अपने विषयों से परिचित नहीं होते हैं किन्तु आनर्स और पोस्ट-ग्रेजुएट के प्रोफेसर को रिसर्चस्कालर होना चाहिए। सभी भारतीय विश्वविद्यालयों के चांसलर गवर्नर होते हैं। प्राचीन काल में ऐसे प्रबन्ध में कोई उद्देश्य रहा होगा किन्तु अब जबकि शिक्षा निर्वाचित मंत्रियों के हाथ में रख दी गई है, तो पुरानी परिपाटी का परिचालन करना आवश्यक नहीं है। हम लोगों को एक वैतनिक चांसलर रखना चाहिए जिसमें इतने गुण हों कि वह विश्वविद्यालय की शिक्षा को अच्छी तरह से संभाल सके।

पिछड़े वर्गों की शिक्षा

निःशुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा होने पर भी ऊंची शिक्षा तो खर्चीली रहेगी ही। पिछड़े हुए वर्ग इसका खर्च नहीं जुटा सकते, क्योंकि उनकी आर्थिक अवस्था बहुत गिरी हुई है। शिक्षा में उनकी कोई उन्नति नहीं हो सकती, जब तक कि सरकार उनके होनहार विद्यार्थियों को सहायता न दे। पिछड़ी जातियों के बच्चों के लिए उच्च शिक्षा प्रबन्ध और अधिक तेजी से किया जाना चाहिए। वे सदैव सामाजिक अन्याय से ही न दबे रह जाएं, हमें यह अवश्य देखना है। पिछड़ी हुई जातियों के वे सब छात्र जो प्रारम्भिक या माध्यमिक परीक्षाओं में प्रथम श्रेणी में पास हों, उच्च शिक्षा के लिए सरकारी वृत्तियों के अधिकारी समझे जाएं।

स्वीकृत पुस्तकें

जो पुस्तकें किसी भी कक्षा के लिए स्वीकृत की जाती हैं। उनका प्रकाशन व्यक्तिगत प्रकाशकों द्वारा बहुत ही निन्दनीय है। यह एक प्रकट रहस्य है कि किस प्रकार घूसखोरी पुस्तक-चुनाव के सम्बन्ध में की जाती है। हरेक व्यक्तिगत प्रकाशक के ऊपर बड़ा भारी उत्तरदायित्व है, अतएव यदि किसी शिक्षा सम्बन्धी संस्था में किसी प्रकार अपवित्रता पाई जाए तो उसके लिए कठिन दण्ड देने में आनाकानी नहीं करनी चाहिए। शिक्षा-विभाग लेखकों का एक समूह रख सकता है और योग्य लेखकों को उचित पारिश्रमिक भी दे सकता है। जितनी किताबें प्राइमरी और उच्च स्कूलों के लिए स्वीकृत हों, उन्हें शिक्षा-विभाग ही प्रकाशित करे। विश्वविद्यालय अपने पाठ्यक्रम के सभी विषयों की पुस्तकें प्रकाशित करें। हां, केवल उन विषयों की पुस्तकें जो किन्हीं खास विषयों पर लिखी गई हैं और जिनके लेखक विश्वविद्यालय की अधीनता में नहीं है, बाहर से मंगाई जा सकती हैं।

पुस्तकों की अवधि

बढ़ती हुई महंगाई को देखते हुए पुस्तकों को कितना भी सस्ता किया जाए, भारत के अधिकांश लोगों की आर्थिक दशा को देखते हुए पुस्तकों की कीमत चाहे जितनी भी कम रखी जाए, वह महंगी ही होगी। इसलिए पुस्तकों को संशोधित करने के दृष्टिकोण से अथवा कुछ जोड़ने-घटाने के उद्देश्य से भी पांच वर्ष या उससे ज्यादा की अवधि तो आवश्य होनी चाहिए। ऐसा करने से विद्यार्थी जब अपनी कक्षा में उत्तीर्ण हो जाएंगे तो उनकी वही पुस्तक उनके छोटे भाई-बहनों के काम आ जाएगी। या फिर वे कुछ कम कीमत पर छोटी कक्षा के विद्यार्थियों को बेची जा सकती है। ऐसा करने से बड़े-भाई बहन को भी सुविधा मिलेगी कि वह अपने द्वारा पढ़ी गई पुस्तकों को आसानी से अपने छोटे को घर में पढ़ा सकते हैं।

भाषा की अनिवार्यता

(क) **प्रारम्भिक शिक्षा**—इस शिक्षा को देते समय इस बात पर ध्यान तो अवश्य देना चाहिए कि विद्यार्थी को नागरिक शास्त्र, इतिहास अपनी मातृभाषा में, विज्ञान की बातें अंग्रेजी में, गणित के अंक अंग्रेजी में, अथवा हिन्दी में और अन्य विषय हिन्दी में अनिवार्य रूप से पढ़ाना चाहिए।

(ख) **माध्यमिक परीक्षा**—इसमें विद्यार्थियों को अनिवार्य रूप से अंग्रेजी भाषा का विषय के रूप में रखा जाना चाहिए। अन्य विषय हिन्दी में हों। हिन्दी विषय अनिवार्य हों और विज्ञान तथा गणित विषय अंग्रेजी में ही हों।

(ग) **विश्वविद्यालय की शिक्षा**—इस स्तर की शिक्षा में हिन्दी की पढ़ाई तो अनिवार्य रूप से हो। गणित तथा विज्ञान की पढ़ाई अंग्रेजी में तथा अन्य विषय हिन्दी या अंग्रेजी में हों।

पाठ्यक्रम—कार्यक्रम

(क) **प्रारम्भिक शिक्षा**—(1) छह वर्ष का पाठ्यक्रम (7 से 12 वर्ष की अवस्था तक) (2) निःशुल्क और अनिवार्य (3) लड़कियों और लड़कों की सह-शिक्षा (4) अनिवार्य शारीरिक श्रम (खोदना और ढोना) (क) प्रथम से चतुर्थ वर्ग तक प्रति सप्ताह 3 घंटे (ख) पांचवें और छठे वर्ग के लिए 4 घण्टे प्रति सप्ताह (5) पांचवें और छठे वर्ग के लिए कुछ खेती और घरेलू-विज्ञान के पाठ (6) फौजी कवायद प्रति सप्ताह दो घण्टे, (7) राष्ट्रीय और नैतिक शिक्षा (धार्मिक शिक्षा के बदले में)।

माध्यमिक शिक्षा : (अ) **हाई स्कूल**—(1) चार वर्ष के पाठ्यक्रम (13 से 16), (2) अनिवार्य शारीरिक श्रम (खोदना और ढोना) छह घण्टे प्रति सप्ताह मातृभाषा माध्यम के रूप में और अंग्रेजी दूसरी अनिवार्य भाषा के रूप में, (3) प्राचीन भाषा में वैकल्पिक विषयों में एक, (4) अतिरिक्त गणित और विज्ञान की शिक्षा का विशेष प्रबन्ध, (5) फौजी कवायद प्रति सप्ताह 2 घंटे, (6) कैम्प-जीवन का श्रम (निःशुल्क हर साल 1 मास (7) प्रथम श्रेणी में पास करने वाले पिछड़े वर्ग के छात्रों को छात्रवृत्ति।

विश्वविद्यालय की शिक्षा—(1) भविष्य में उपयोगिता के अनुसार विषयों का सामूहिक विभाग (2) अनिवार्य शारीरिक श्रम (खोदना और ढोना) हफ्ते में 6 घंटे (3) कैम्प-जीवन श्रम (निःशुल्क) प्रति वर्ष एक मास (4) राइफल चलाना और दूसरी फौजी कवायद दो घंटे प्रति सप्ताह (5) औद्योगिक और सामाजिक विज्ञानों के पढ़ने के लिए विशेष प्रबन्ध (6) राजनैतिक विचार और उनके अभिव्यंजन की स्वतंत्रता (7) माध्यम मातृभाषा, अंग्रेजी दूसरी अनिवार्य भाषा, (8) विज्ञान के स्नातक कानून न पढ़ें और दूसरे ऐसे पेशे भी न करें जिनसे उनका ज्ञान व्यर्थ जाए (9) वैतनिक चांसलर आवश्यक गुणों के साथ (10) प्राचीन भाषाओं के प्रथम चार वर्गों में अध्ययन के लिए शिक्षकों को अंग्रेजी ज्ञान की जरूरत नहीं, (11) उन पिछड़ी हुई जातियों को वृत्तियां दी जाए जो मैट्रिकुलेशन परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हों।

दृढ़ संकल्प

किसी भी कार्य को पूरा करने के लिए दृढ़ संकल्प का होना आवश्यक है। अच्छी बातों का स्वागत सभी को करना चाहिए। लेकिन हमारे देश का राजनीतिक माहौल कुछ ऐसा है जहां हर दल, हर शासक अपनी रखना चाहता है, अपनी ही करना चाहता है। इसे बिना हस्तक्षेप होते रहना चाहिए क्योंकि कोई प्रणाली में रुकावट का अर्थ पीछे हो जाना है।

आज देश जिस स्थिति में आ गया है, वहां प्रणालियों-पद्धतियों से शायद कुछ होने वाला नहीं है। गुहार-अपील और नैतिकता की शिक्षा बेकार-सी दिखती है। प्रौढ़ शिक्षा, औपचारिकेत्तर शिक्षा, आंगनवाड़ी सब के सब मनुष्य जाति के लिए, विकासशील राष्ट्र के लिए काफी महत्तम प्रयास हैं।

इसलिए देश में केन्द्रीय तथा राज्य स्तरीय सभी विद्यालयों का एक पाठ्यक्रम तो होना ही चाहिए साथ ही जितने भी अंग्रेजी पढ़ाई वाले निजी शिक्षण संस्थान हैं उसमें भी केन्द्रीय या राज स्तरीय पाठ्यक्रम होना चाहिए। नहीं तो पांच वर्ष के लिए अगर सम्भव हो तो पूरे देश के शिक्षा व्यवस्था सैनिक देख-रेख में कर देनी चाहिए।

जब तक हम नियम बनाने वाले को शिक्षित नहीं कर लेते, उसका नैतिक स्तर नहीं सुधार लेते और उनके अन्दर राष्ट्रीय प्रेम नहीं भर देते, तब तक कोई भी प्रणाली सफल नहीं हो सकती।

लीची बगान, पंखा टोली,
रमना, मुजफ्फरपुर-842002

शिक्षा का वर्तमान स्वरूप और भावी चुनौतियां

सुशील रंजन

शिक्षा किसी भी समाज अथवा देश की उन्नति का आधार है। शिक्षा जहां समझ-बूझ, चेतना, ज्ञान और विवेक को बढ़ाकर तथा लोगों के दृष्टिकोण को व्यापक बनाकर मनुष्यता को पूर्णता प्रदान करती है। वहीं शिक्षा के माध्यम से ही लोग तकनीकी कौशल प्राप्त करके अपना आर्थिक उत्थान करते हैं। शिक्षा और विकास एक-दूसरे से कितना गहरे जुड़े हुए हैं यह इसी तथ्य से जाहिर होता है कि जो देश आज भौतिक औद्योगिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में विकसित हैं, वहां साक्षरता दर बहुत ऊंची है। यूरोप के कुछ देशों में तो साक्षरता दर लगभग सौ प्रतिशत है। हमारे अपने देश में भी विभिन्न राज्यों के विकास का ग्राफ साक्षरता के स्वर के अनुरूप दिखाई देता है। महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, केरल आदि जिन राज्यों में साक्षरता का विस्तार हुआ है, वहां उद्योग, कृषि, सहकारिता आदि क्षेत्रों में अपेक्षाकृत अधिक प्रगति हुई और जनसंख्या वृद्धि की गति पर भी असर हुआ है किन्तु इसके विपरीत बिहार, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा आदि राज्यों में साक्षरता की कम दर है इसलिए विकास की गति धीमी रही है।

यह सही है कि स्वतंत्रता के पश्चात छात्रों, अध्यापकों तथा शिक्षा संस्थाओं की संख्या में काफी वृद्धि हुई है और अनौपचारिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, दूर शिक्षा, पत्राचार शिक्षा तथा अन्य उपायों के रूप में शिक्षा का विस्तृत ढांचा विकसित हो गया है। इसके अलावा तकनीकी, कृषि, विज्ञान एवं टेक्नोलोजी, चिकित्सा, जैसे विशिष्ट पाठ्यक्रमों की व्यवस्था में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई। निस्संदेह हमारे देश में कृषि उद्योग, टेक्नोलोजी, व्यापार, वाणिज्य, ऊर्जा, परमाणु आदि क्षेत्रों में पिछले वर्षों में जो विकास हुआ है, उसमें इन उपायों का स्पष्ट योगदान है।

किन्तु इस तथ्य से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि विश्व में कुल निरक्षर लोगों में से अधिक भारत में है। इसके अलावा हमारे यहां शिक्षा का कोई निश्चित स्वरूप अभी तक उभर कर सामने नहीं आया। स्वतंत्रता के पश्चात प्राथमिक तथा उच्च शिक्षा का अपने देश की आवश्यकताओं एवं उपेक्षाओं के अनुरूप बनाने के अनेक प्रयोग एवं प्रयास हुए किन्तु शिक्षा पड़ाव में वांछित परिवर्तन करने में हम सफल नहीं हो पाए। सच तो यह है कि आज शिक्षा के क्षेत्र में एक प्रकार की आवश्यकता की स्थिति आ गई है और सामाजिक समानता की बजाए यह विषमता का माध्यम बनती जा रही है। सबसे बड़ी विफलता तो यह है कि इसे 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों के लिए अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करने का संविधान में दर्ज अपना संकल्प हम इन 40 वर्षों में पूरा नहीं कर पाए हैं।

हमारी शिक्षा पद्धति का एक प्रमुख दोष यह है कि इससे श्रम की गरिमा को बढ़ावा नहीं मिलता यों भी हमारी सामाजिक रचना जाति पर आधारित है और जाति प्रथा का आधार ही श्रम की गरिमा की उपेक्षा है। हमारे समाज में हाथ से काम करने वाली जातियों को छोटा माना गया है। इसलिए हमारी शिक्षा पद्धति में श्रम को गरिमा प्रदान करने पर और भी अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए था किन्तु हुआ ठीक इसके विपरीत। परीक्षा और किताबों से बंधी हमारी शिक्षा प्रणाली ज्ञान भले ही बढ़ाती हो परन्तु व्यक्ति में अपनी पहल से कुछ करने की योग्यता पैदा करने में विफल रहती है। यही कारण है कि बेरोजगारों की असीम संख्या में शिक्षित बेरोजगारों का काफी अनुपात है। देश में बढ़ती हुई हिंसा, शिक्षा की व्यर्थता के कारण युवकों के मन में भविष्य के प्रति निराशा और हताश का ही परिणाम है। कोरे किताबी ज्ञान पर आधारित शिक्षा कभी भी राष्ट्र के पुनर्निर्माण की साधन नहीं बन सकती।

हमारा समूचा शिक्षा तंत्र परीक्षा के आस-पास घूमता है। जैसे-तैसे परीक्षा पास करना ही विद्यार्थी का एकमात्र लक्ष्य रहता है, क्योंकि उसमें अर्जित अंकों एवं श्रेणी के आधार पर ही नौकरी मिलती है। इससे हमारी शिक्षा व्यवस्था ने कृत्रिम रूप धारण कर लिया है। विचित्र बात यह है कि सभी शिक्षाविद मौजूदा परीक्षा पद्धति को दोषपूर्ण मानते हैं किन्तु इसे बदलने की दिशा में कोई प्रयास नहीं किया गया। इसके चलते शिक्षा पद्धति अपनी विश्वसनीयता ही खो चुकी है।

हमारी शिक्षा पद्धति नगरोन्मुखी है और इससे ग्रामीण तथा दलित कमजोर व पिछड़े वर्गों के विकास में विशेष मदद नहीं मिल रही। एक ओर शहरों में मंहगे और तथा कथित 'ऊंचे' स्कूलों की बाढ़ आ रही है और दूसरी ओर गांवों व कस्बों के सरकारी स्कूलों में बुनियादी सुविधाओं एवं अध्यापकों तक का अभाव है। प्रथम प्रकार के स्कूल केवल संपन्न वर्गों के ही हितों

की पूर्ति करते हैं। इससे आर्थिक विषमता के साथ-साथ सामाजिक विषमता को भी प्रोत्साहन मिल रहा है जो पहले से ही हमारे समाज की एक गंभीर समस्या है। गांवों तथा कमजोर वर्गों खासकर अनुसूचित जातियों व जनजातियों के बच्चों की स्कूलों में दाखिले की दर अपेक्षाकृत कम है और फिर पढ़ाई अधूरी छोड़ने वाले बच्चों में अधिक संख्या गांवों तथा इन्हीं वर्गों के बच्चों की होती है। इसके अलावा शिक्षा प्रणाली बच्चों और युवकों में देशभक्ति, राष्ट्रीय एकता, समाज के प्रति लगाव, अपनी परम्पराओं के लिए आस्था जैसे भाव पैदा करने में सक्षम है। यही कारण है कि हमारा युवक आज उच्छ श्रृंखला, दिशाहीन तथा समाज से असंपृक्त हो गया है और अपराध की राह पर बढ़ने में उसे कोई हिचक नहीं है।

शिक्षा की इस शोचनीय स्थिति को देखते हुए ही 1986 में सरकार ने नई शिक्षा नीति तैयार की। इस शिक्षा नीति में मौजूदा त्रुटियों को स्वीकार करते हुए देश को 21वीं शताब्दी की ओर ले जाने की तैयारी का संकल्प प्रकट किया गया। इसमें अनेक ऐसे उपायों की चर्चा थी, जिनके दूरगामी परिणाम हो सकते थे। नवोदय विद्यालय खोल कर ग्रामीण बच्चों को शहरी बच्चों के समकक्ष लाने की एक अति महत्वपूर्ण योजना भी इसमें शामिल थी किन्तु जैसाकि अक्सर होता आया है, प्रारम्भिक उत्साह में कुछ उपाय अवश्य किए गए, किन्तु कुछ समय बाद सरकार की प्राथमिकताएं बदल गई और नई शिक्षा नीति एक बुझती हुई लौ की भांति उपेक्षित हो गई। 1986 की शिक्षा नीति की समीक्षा करने तथा उसमें समुचित संशोधन सुझाने के लिए 7 मई, 1990 को प्रोफेसर राममूर्ति की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया। इस समिति ने समूचे परिप्रेक्ष्य पर विचार करने के बाद अपनी कुछ सैद्धांतिक और व्यावहारिक सिफारिशें पेश कीं, जिनमें से कुछ बहुत ही उपयोगी हैं।

शिक्षा को मौजूदा परिस्थितियों में सार्थक एवं संगत बनाने के लिए सबसे पहली आवश्यकता यह है कि सरकारी प्राथमिकताओं में इसे ऊंचा स्थान दिया जाए। शिक्षा के लिए केन्द्रीय बजट राशि में भले ही काफी वृद्धि हुई है, किन्तु कुल योजना परिव्यय में शिक्षा के व्यय का प्रतिशत घटता गया है। 1988-89 में मानव संसाधन विकास मंत्रालय के लिए केन्द्रीय क्षेत्र में 1609.61 करोड़ रुपये का प्रावधान था जबकि 1989-90 में इसे घटाकर 1581.90 करोड़ रुपये कर दिया गया। शिक्षा पर किया गया व्यय वास्तव में बुनियादी निवेश है, जिसका फल कालान्तर में अर्थव्यवस्था तथा सामाजिक उत्थान के सभी क्षेत्रों में प्राप्त होता है।

जैसा कि नई शिक्षा नीति तथा समीक्षा समिति की सिफारिशों में भी संकेत किया गया है, प्राथमिक शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। 6-14 वर्ष के आयु वर्ग के बच्चों को अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा देना न केवल राष्ट्रीय एवं सामाजिक कर्तव्य बल्कि संवैधानिक निर्देश भी है। 1986 की शिक्षा नीति में सन् 2000 तक 50 करोड़ लोगों की निरक्षरता दूर करने के लक्ष्य की कल्पना की गई थी। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्राथमिक शिक्षा को ऐसा रूप देना होगा कि बीच में पढ़ाई छोड़ने, खासकर लड़कियों द्वारा पढ़ाई बीच में छोड़ने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगा सके। पढ़ाई पूरी किए बिना स्कूल से उठ जाना हमारी शिक्षा व्यवस्था का सबसे काला कोना है। इस स्थिति को बदले बिना हमारे सभी संकल्प और लक्ष्य धरे के धरे रहेंगे। स्कूलों में सभी सुविधाओं की व्यवस्था दोपहर का भोजन, निःशुल्क पुस्तकें तथा वर्दी आवश्यक हो तो अपेक्षाकृत अधिक पिछड़े कुछ क्षेत्रों में जरूरत मंद छात्रों को छात्रवृत्ति आदि देकर स्कूलों में दाखिल होने और पढ़ाई जारी रखने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। स्कूल के समय में स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन करना, खेलकूद, मनोरंजन की व्यवस्था भी इसमें सहयोगी हो सकती है।

अनेक अध्ययनों तथा सर्वेक्षणों से यह तथ्य सामने आया है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों में शैक्षिक पिछड़ापन अन्य वर्गों की तुलना में कहीं अधिक है। 1981 की जनगणना के आंकड़ों के मुताबिक कुल साक्षरता दर 36.23 प्रतिशत थी, लेकिन अनुसूचित जातियों और जनजातियों में यह दर क्रमशः 21.30 प्रतिशत तथा 16.35 थी। कुछ राज्यों में तो यह 10 और 7 प्रतिशत तक भी थी। इसी प्रकार महिलाएं भी साक्षरता के मामले में बहुत पीछे हैं। 1981 में पुरुषों में साक्षरता दर 46.89 के मुकाबले महिलाओं में केवल 29.82 प्रतिशत थी। इसीलिए इन वर्गों तथा महिलाओं को शिक्षित करने के लिए निश्चय ही विशेष उपाय करने होंगे। तभी इस शताब्दी के अंत तक करोड़ लोगों को लिखने-पढ़ने लायक बनाने का सपना पूरा हो सकेगा।

इस संदर्भ में नई शिक्षा नीति का यह बिन्दु अत्यंत सार्थक एवं सामयिक है कि शिक्षा प्रसार को जन आन्दोलन का रूप दिया जाना चाहिए किन्तु यह तभी संभव है जब शिक्षा की खोई हुई विश्वसनीयता बहाल की जाए। शिक्षा को जन आंदोलन बनाने से शिक्षा के महत्व के प्रति आम लोगों खासकर शैक्षणिक रूप से पिछड़े लोगों में जागृति पैदा होगी जिससे साक्षरता के अभियान में और गति आएगी। जाहिर है कि इतना बड़ा काम अकेले सरकारी प्रयासों से संभव नहीं है। इस काम में

स्वयं सेवी संस्थाओं का सहयोग अत्यंत कारगर सिद्ध होगा। शिक्षा को सैद्धांतिक खोल से निकाल कर व्यावहारिक और व्यावसायिक स्वरूप प्रदान करने में भी स्वयंसेवी संस्थाएं विशेष भूमिका निभा सकती है। छात्रों को स्कूली वातावरण से बाहर ले जाकर उन्हें विभिन्न शिविरों तथा व्यावहारिक अभ्यास कार्यक्रमों में प्रशिक्षण देने के लिए ये संस्थाएं सहयोग कर सकती हैं। इससे छात्रों में व्यवहार बुद्धि तथा सूझ-बूझ विकसित होगी और उनमें जीवन की समस्याओं से धैर्य एवं विवेक से निपटने की क्षमता विकसित होगी। इससे श्रम की गरिमा को भी बल मिलेगा, जो मौजूदा शिक्षा प्रणाली की सबसे पहली विशेषता होनी चाहिए। प्रौढ़ शिक्षा साक्षरता के विस्तार का सबसे उपयोगी साधन है। इस क्षेत्र में तो स्वयंसेवी संस्थाएं पूरा दायित्व ही संभाल सकती हैं। जिन लोगों को शिक्षित किया जाए, उन्हीं में से कार्यकर्ता तैयार करके शिक्षा की इस लौ को निरंतर प्रज्जवलित रखा जा सकता है।

पाठ्यक्रम तथा पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने तथा शिक्षण पद्धति में इस बात पर ध्यान देना भी अत्यंत आवश्यक है कि बच्चों और किशोर-किशोरियों में अपने समाज, देश, इतिहास एवं परम्पराओं तथा जीवन मूल्यों के प्रति आत्मीयता और गर्व का भाव पैदा हो। साथ ही समाज में विषमता दूर करने और सामाजिक न्याय कायम करने के प्रति उन्हें संवेदनशील बनाने पर ध्यान देना होगा महिलाओं और पुरुषों में समानता का दृष्टिकोण विकसित करना भी आधुनिक युग की महत्वपूर्ण मांग है। इस दिशा में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान तथा प्रशिक्षण परिषद का जनसंख्या शिक्षा विभाग अच्छा काम कर रहा है। इस कार्यक्रम में और तेजी लाई जानी चाहिए। आबादी को उपेक्षित मानकर कोई भी देश उन्नत नहीं हो सकता।

निश्चय ही इन उपायों से शिक्षा पद्धति में सुधार लाकर उसे देश की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने में मदद मिलेगी और शिक्षा देशवासियों में अज्ञान का अंधकार दूर करके उनमें ज्ञान की ज्योति प्रज्जवलित करने साथ-साथ उपेक्षित एवं पिछड़े वर्गों को समानता का वरदान देने और देश के सामाजिक-आर्थिक उत्थान का लक्ष्य प्राप्त करने का साधन बन सकेगी। □

भारतीय राज्य फार्म निगम लिमिटेड
(भारत सरकार का संस्थान)
"फार्म भवन", 14-15, नेहरू प्लेस,
नई दिल्ली-110019
फोन : 6446901, 6446903
6446904, 6446905

एस. एफ. सी. आई. के बीज क्यों खरीदें?

- "एस. एफ. सी. आई. बीज" पूरे देश से अनुसंधान संस्थानों तथा कृषि विश्वविद्यालयों से सीधे प्राप्त "नाभिकीय" तथा "प्रजनक" बीजों से उत्पादित किए जाते हैं।
- "एस. एफ. सी. आई. बीज" देश के विभिन्न भागों में विभिन्न कृषि जलवायु परिस्थितियों में स्थित इसके स्वयं के "केन्द्रीय राज्य फार्मों पर उच्च कृषि वैज्ञानिकों की सीधी देखरेख में उत्पादित किए जाते हैं।"
- "एस. एफ. सी. आई. बीज" रोग मुक्त हैं तथा ये विश्वसनीय "गुणवान बीज" की प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हैं।
- "एस. एफ. सी. आई. बीज" उच्च आधुनिक प्रोसेसिंग प्लांटों पर प्रोसेस किए जाते हैं ताकि इनमें अवांछित अनाज अथवा अन्य कोई गलत पदार्थ न मिल सके।
- खाद्यान्नों, दलहनों, तिलहनों तथा फलों के पौधे आदि के लिए "एस. एफ. सी. आई. बीज" निगम के नई दिल्ली स्थित मुख्यालय से उपरोक्त पते पर सम्पर्क करने के पश्चात प्राप्त किए जा सकते हैं।

मुख्य विपणन प्रबन्धक

अब हमें नयी शिक्षा चाहिए—पूर्ण रूप से नयी। हम जीवन के लिए शिक्षा चाहते हैं। यह मांग कोठारी आयोग्य ने आज से एक चौथाई शताब्दी पहले उठाई थी। शिक्षा सबके लिए चाहिए। कुछ थोड़े-से चुने व्यक्तियों के लिए नहीं। यह बहुत दुःख की बात है कि विश्व के निरक्षरों में से 50 प्रतिशत हमारे देश में हैं। हमारे देश में एक बहुत बड़ी संख्या में बच्चे प्राथमिक शिक्षा के स्वीकार्य स्तर से वंचित हैं जो बच्चे पढ़ रहे हैं उनका बस्ता 'बोझ' बन गया है। 16 विषयों के चक्रव्यूह में आज का बच्चा फंस गया है। बच्चों के मस्तिष्क में अनेक विषयों का अधकचरा ज्ञान भर रहा है। तोता रटन्त विद्या को अपनाकर परीक्षा में पास होना डिग्री प्राप्त करना—आज बच्चों का ध्येय है।

निरक्षरता को दूर करने के लिए प्रौढ़ शिक्षा का अभियान शुरू हुआ। इसका तात्पर्य है निरक्षर, अर्द्ध साक्षर या विस्मृतक्षर। प्रौढ़ शिक्षा का वास्तविक अर्थ समाज शिक्षा है। ऐसी शिक्षा जो व्यक्ति को एक सुयोग्य नागरिक बनाने में समर्थ हो। अधिकार और कर्त्तव्यों को पहचानते हुए नागरिक सच्चे अर्थों में मानव बने। छठी पंचवर्षीय योजना में प्रौढ़ शिक्षा पर विशेष बल दिया गया। इसके लिए छः सौ करोड़ रुपये का प्रावधान रखा गया था। 1978 में गांधीजी के जन्म दिवस पर इस योजना का श्री गणेश हुआ। इसमें प्रौढ़ों को समझाने की कोशिश की गई कि पढ़ाई-लिखाई केवल बच्चों के लिए ही जरूरी नहीं है जो लोग पढ़-लिख नहीं सकते हैं उनके लिए आज भी शिक्षा के दरवाजे खुले हुए हैं। लिखना आने के बाद तो आपको कहीं अंगूठा लगाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। साक्षरता अज्ञान के अंधेरे से ज्ञान के प्रकाश की तरफ ले जाने का एक रास्ता है, एक विश्वसनीय माध्यम है। कई जगह कुछ सफल रहा पर अधिकतर स्थानों पर यह अभियान प्रौढ़ों में रूचि नहीं जगा सका। इसके पढ़ाने वाले अध्यापकों का वेतन बहुत कम रखा गया प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम में कई व्यवहारिक कठिनाइयां आ रही हैं। इसकी सार्थकता के लिए पुनर्निर्माण की जरूरत है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है कि इस दशक में सब बच्चे स्कूली शिक्षा पा सकें ताकि वे बड़े होकर अगली सदी में निरक्षरों की संख्या न बढ़ायें।

जहां तक अपनी शिक्षा प्रणाली में सुधार की बात है तो आज की परिस्थितियों को देखते हुए यह तो निश्चित है कि शिक्षा प्रणाली को नया रूप देना होगा। हम अपनी शिक्षा प्रणाली में सैकड़ों वर्षों के अनुभवों से प्राप्त पारम्परिक ज्ञान और समझदारी के समृद्ध खजाने को अनदेखा कर रहे हैं। परम्परा में मिला यह हमारा खजाना—खेती, भूप्रबंध, जल संसाधनों का भौगोलिक दृष्टि से नियोजन, वन, विज्ञान, भवन निर्माण, चिकित्सा, कुटीर उद्योग ऐसे विविध क्षेत्रों से शिक्षा की विषय वस्तु जुड़ी होनी चाहिए। शिक्षा का अर्थ कुशल शिल्पी तैयार करना नहीं वरन् विद्यार्थी में उद्योग-धन्धों के प्रति प्रेम और उनकी ओर झुकाव उत्पन्न कर शारीरिक श्रम के महत्व की अनुभूति कराना हो। स्कूल की दुनिया और काम की दुनिया के बीच व्यावहारिक रिश्ता कायम हो। व्यावसायिक दृष्टि से काम की दुनिया में कार्य पीठ (वर्क बैंच) और अभ्यास शाला (प्रेक्टिस स्कूल) जैसी व्यवस्था शिक्षा में हो। छात्रों को कृषि, बागवानी, बढ़ईगिरी, मधुमक्खी पालन, टंकण, फोटोग्राफी, रेडियो, टेलीविजन, छोटे-से-छोटे कामों में भी अच्छी तरह से प्रशिक्षण दे। शिक्षा का दृष्टिकोण केवल नौकरी नहीं हो। बल्कि जहां जो कुछ भी हो रहा है या कर रहे हैं वह पूरे प्रशिक्षण और तकनीकी से हो। हर काम के करने का तरीका काम में सुधार और प्रगति का रास्ता बनाने वाली शिक्षा ही जीवन के लिए उपयोगी हो सकती है। प्रसन्नता की बात है कि हम लोगों का ध्यान इस ओर जा रहा है पर अभी भी हमारी शिक्षा का अर्थ दफ्तरों में नौकरी ही है। इस संदर्भ में कुटीर उद्योगों को नहीं भूलाया जा सकता है। छोटी-छोटी इकाइयों में लगे उद्योग मनुष्य को स्वावलम्बी भी बनाते हैं और देश की प्रगति में सहायक हैं। देश में कोई निरक्षर नहीं रहे और सबको काम मिले ऐसी शिक्षा के लिए शिक्षण का पूरा ढांचा ही बदलना होगा। यह काम आसान नहीं है। सामने चुनौतियां हैं, रास्ता बहुत कठिन है पर एक दिन तो नयी शिक्षा पद्धति की शुरुआत करनी ही है। क्यों नहीं इस ओर जल्दी कदम उठाये जाएं ताकि पल-पल गिरती विद्यार्थियों की स्थिति में सुधार हो सकें।

ए-5, एन. बी. सी. कालोनी, जयपुर
(राजस्थान)

शिक्षा नीति से जुड़े कुछ महत्वपूर्ण पहलु

हरि विश्नोई

यद्यपि हमारे देश में व्यापक निरक्षरता एक बड़ी समस्या है और सबसे जरूरी तथा महत्वपर्ण इसे दूर करना है। लेकिन इसके अतिरिक्त भी अन्य कई पहलु ऐसे हैं जिन पर नए सिरे से गौर किया जाना बहुत जरूरी हो गया है। जैसे निर्बल वर्ग के लोगों तक विज्ञान और टैक्नोलोजी से जुड़ी तमाम जानकारी नहीं पहुंच पाती। अच्छी शिक्षा प्राप्त करने के लिए पर्याप्त खर्चा करना पड़ता है। पब्लिक स्कूलों की तादाद दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। प्रतिभाएं आज भी दूसरे देशों को पलायन कर जाती हैं क्योंकि उन्हें अपना भविष्य विदेशों में ज्यादा अच्छा दिखाई देता है। शिक्षा से सम्बन्धित इस तरह के तमाम पहलुओं पर ठोस कदम उठाए जाने चाहिएं ताकि नई शिक्षा-नीति में शैक्षिक सुविधाओं के लाभ हमारे हर उस देशवासी को मिल सके जिसे उसकी जरूरत है क्योंकि राष्ट्र की सामाजिक-आर्थिक प्रगति हेतु 'सबके लिए शिक्षा' की आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

1986 में जो नई शिक्षा नीति बनाई गई थी उसकी समीक्षा के लिए आचार्य राममूर्ति की अध्यक्षता में एक समीक्षा कमेटी गठित की गई ताकि शिक्षा के क्षेत्र में जो बुनियादी चिंताएं आज भी बरकरार हैं, उन्हें दूर किया जा सके। साथ ही पिछले चार वर्षों में जो बदलाव आया है उसका विश्लेषण करके आगे की रणनीति तैयार करने में मदद मिल सके। इस उद्देश्य के लिए समिति ने बुद्धिजीवियों को शामिल करने का प्रयास किया है और एक परिप्रेक्ष्य पर्चा जारी किया ताकि एक खुली बहस राष्ट्रीय स्तर पर इस सम्बन्ध में की जा सके। समीक्षा ने खासतौर पर उन बिन्दुओं को भी स्पष्ट किया, जिन पर समीक्षा की जानी है।

शिक्षा समानता के लिए

यद्यपि हमारे देश में महिलाओं को समान अधिकार दिलाने की दिशा में अभी तक बहुत कुछ हुआ है। लेकिन उन्हें तथा पिछड़े हुए वर्गों को खास कर अल्पसंख्यक समुदाय तथा अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लोगों को सामाजिक न्याय और बराबर की हिस्सेदारी दिलाने के लिए अपने शिक्षातंत्र को प्रभावी बनाया जाना होगा। इसके अलावा रोजगार से शिक्षा का वास्तविक रिश्ता होना भी जरूरी है ताकि हर हाथ को काम मिल सके। इस मामले में जो भी असमानताएं व्याप्त हैं उन्हें दूर करने के लिए शिक्षा की भूमिका प्रभावी सिद्ध हो सकती है। यह दुर्भाग्य है कि हमारी शिक्षण संस्थाओं का झुकाव भी अब जाति एवं सम्प्रदायवाद की ओर बढ़ता हुआ दिखाई देने लगा है जबकि हमें वास्तव में समतावाद, धर्मनिरपेक्षता और सामाजिक जागृति की दिशा में आगे बढ़ना है। इन सवालों पर यदि हम गहराई से ध्यान दें तो पता चलेगा कि यह बात सुनने में तो अच्छी लगती है। लेकिन व्यवहार में बहुत-सी कठिनाइयां आती हैं। उनमें से सबसे बड़ी समस्या है हमारे गांवों में, कस्बों में तथा शहरों में छाया हुआ निरक्षरता का अंधेरा। इस ओर चुप्पी साध लेने अथवा केवल चिंता कर लेने से काम नहीं चलेगा। बल्कि 21वीं सदी के आगमन से पूर्व यह जरूरी हो गया है कि गांव, देहात में रहने वालों को साक्षर बनाने के लिए विशेष प्रयास शुरू किए जाएं।

शिक्षा एक निवेश के रूप में

आज के दौर में तथा आने वाले कल के लिए क्या यह जरूरी हो गया है कि मानव संसाधन विकास हेतु एक सर्वथा नवीन पद्धति अपनाई जाए। शिक्षा को वर्तमान तथा भविष्य में एक निवेश के रूप में देखा जाए? क्या तभी उन मूल्यों की प्राप्ति सम्भव हो सकेगी जो कि आवश्यक हैं। दरअसल 1968 की शिक्षा नीति के अधिकांश सुझावों को क्रियान्वित नहीं किया गया है। फलस्वरूप शिक्षा सुविधाओं को सुलभ कराने में दिक्कतें आई, उसका स्तर गिरा तथा शिक्षा की मात्रा और उपयोगिता से जुड़ी अन्य कई समस्याओं को सिर उठाने का मौका मिल गया। 1986 में बनाई गई शिक्षा नीति में यह बात विशेष रूप से रखी गई कि राष्ट्रीय स्तर पर एक शिक्षा प्रणाली होनी चाहिए। यानि कि जाति, सम्प्रदाय, स्थान और लिंग के आधार पर फर्क किए बिना शिक्षा सुलभ कराने की व्यवस्था होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 10+2+3 प्रणाली का एक रूप शैक्षिक ढांचा स्थापित होना चाहिए।

आजादी मिलने के बाद से हमारे समाज के विकास हेतु किए गए अनेक प्रयासों के बाद भी अधिसंख्य लोग शिक्षा सुविधाओं से दूर रहे। दुनिया भर में जितने निरक्षर लोग हैं उनमें से आधे हमारे देश में हैं। इससे और बड़ी दु:ख की बात क्या होगी कि

बड़ी तादाद में हमारे बच्चे उन बुनियादी शिक्षा सुविधाओं को भी प्राप्त नहीं कर पाते जिन्हें हम प्राथमिक शिक्षा सुविधाओं के रूप में जनसमूह तक पहुंचाने का दावा करते हैं। शिक्षा हमारी सर्वोच्च प्राथमिकताओं में आती है। आखिर अंतर कहां है? यह देखा जाना बेहद जरूरी है?

मानव संसाधन विकास के लिए एक मानवीय अधिकार के रूप में मानवीय, प्रबुद्ध समाज की ओर बढ़ने के उपयुक्त साधन के तौर पर शिक्षा, महिलाओं तथा पिछड़े वर्ग को समानता का हक दिला सकती है। लेकिन हम अपनी शिक्षा की दुनिया में यदि पिछली कारगुजारियों को देखें तो स्पष्ट होगा कि प्रारम्भिक जानकारियों, ज्ञान और समझदारी के भण्डार को अनदेखा करते रहे हैं। कृषि, आवास, सिंचाई, वन, पर्यावरण और स्वास्थ्य तथा लघु उद्योगों से जुड़े तमाम मुद्दों पर हमारे समाज में परम्परागत ज्ञान बहुत-से क्षेत्रों में उपलब्ध है। अतः उसे नई पीढ़ी के साथ शिक्षा की प्रक्रिया तथा विषय वस्तु में सम्मलित किया जा सकता है।

इस तरह के एक नहीं कई मामले हैं। उदाहरण के लिए प्रौढ़ शिक्षा को ले सकते हैं। यह तो आवश्यक नहीं है कि बड़े बुजुर्ग के पढ़ने-लिखने के लिए असमर्थता, उनमें व्याप्त निरक्षरता ही हो। उनमें और भी कौशल हो सकते हैं। मुसीबतों से लड़ने तथा विपरीत परिस्थितियों के बीच कार्य करने की क्षमता हो सकती है। अतः प्रौढ़ शिक्षा को केवल शिक्षा का पर्याय मान लेना उचित नहीं होगा क्योंकि यह जरूरी नहीं है कि निरक्षर आदमी अशिक्षित ही हो।

महंगी शिक्षा आखिर क्यों?

हमारे देश में महंगाई का साम्राज्य चारों तरफ दिखाई दे रहा है। पठन-पाठन सामग्री, विद्यालयों के शिक्षण शुल्क और अन्य सामग्री भी इस मूल्य वृद्धि के प्रमुख प्रभाव से अछूते नहीं बचे हैं। लेकिन ऐसी स्थिति में जो बच्चे मेधावी हैं किन्तु निर्धनता उनके आगे बढ़ने में बाधा उत्पन्न करती है। उनके सामने बड़ी परेशानी खड़ी हो जाती है जबकि ऐसा नहीं होना चाहिए। बहुत-से गरीब परिवारों के बच्चों को अपनी पढ़ाई बीच में ही छोड़ देनी पड़ती है क्योंकि उनके माता-पिता, शिक्षा पर होने वाले खर्च का बोझ नहीं उठा पाते। वे मजदूरी करते हैं और जो थोड़ा बहुत कमाते हैं उससे तो गुजारा ही बड़ी मुश्किल से चलता है। ऐसी स्थिति में शिक्षा का महंगा होना एक दुःखद पहलु बनकर सामने आता है। जिससे छुटकारा पाना अत्यन्त आवश्यक है।

आर्थिक मजबूरियों के कारण कोई भी स्कूलों से दूर न रहे ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए क्योंकि मेडिकल, इंजीनियरिंग आदि व्यवसायिक शिक्षा के उच्च क्षेत्रों में गरीब छात्रों की संख्या में बहुत कमी है। इसके अलावा वे किसी तरह आ भी गए तो उन्हें महंगी शिक्षा पूरी करने के लिए तरह-तरह के प्रयत्न करने होते हैं। यदि शिक्षा का सामाजिक आधार और अधिक व्यापक बनाया जाए तो इस स्थिति से उभरा जा सकता है। जिसमें शिक्षा साधन सम्पन्न लोगों के हाथ का खिलौना बन कर रह गई है। पाठ्य पुस्तकें, छात्रावास का शुल्क तथा शिक्षण शुल्क सभी में निर्धन छात्रों को आर्थिक सहायता की सुविधा नहीं मिलती। काम करने वाले बच्चों के लिए स्कूल का समय घटा कर निश्चित करने के लिए नए प्रयोग किए जा सकते हैं ताकि हमारा उद्देश्य पूरा हो सके। शिक्षा के महंगा होने की प्रक्रिया को रोकने के लिए सफलता मिल सकती है बशर्ते इस मामले को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाए। केवल कुछ प्रारम्भिक कक्षाओं तक निःशुल्क शिक्षा का परिणाम हमारे सामने है। जरूरत है, इसमें एक बार फिर अनुकूल परिवर्तन करने की।

निर्धन और विज्ञान के बीच की खाई

हमारे देश में प्राकृतिक सम्पदा एवं मानव संसाधन प्रचुर मात्रा में होते हुए भी जो निर्धनता देखने को मिलती है उसका एक बड़ा कारण है कि यहां के रहने वालों में अधिसंख्य ने अपने सोचने और काम करने के ढंग को नहीं बदला है। फलस्वरूप पुराने ढर्रे पर आज भी धीरे-धीरे गाड़ी चल रही है। आज के बदलते दौर में यह बहुत आवश्यक है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास किया जाए। अपने कौशल में सुधार करने तथा कार्य क्षमता को बचाने के लिए उन्नत प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल करना जरूरी है। लेकिन नई जानकारियां, जो विज्ञान और तकनीक से ताल्लुक रखती हैं आज भी गरीबों तक नहीं पहुंच पातीं। फलस्वरूप वे लोग उनसे वंचित है, जिन्हें विज्ञान की सर्वाधिक आवश्यकता है।

गरीब लोग अधिकांशतः अशिक्षित रह जाते हैं। अतः विज्ञान की बातें उनकी समझ से बाहर रहती है। राष्ट्रीय विज्ञान और प्रौद्योगिकी संचार परिषद ने इस दिशा में सराहनीय कदम उठाए हैं और विज्ञान को आम भाषा में नाटकों आदि परम्परागत संचार माध्यमों के द्वारा लोगों तक पहुंचाने का काम सराहनीय ढंग से किया है। लेकिन यह बहुत बड़े पैमाने पर किए जाने की जरूरत है क्योंकि हमारे सामने जो लक्ष्य समूह है वह बहुत बड़ा है। राष्ट्र के पुनर्निर्माण की बात तभी सच हो सकती है जबकि प्रत्येक देशवासी विज्ञान की रोशनी में अपने कामों को अंजाम दें। लेकिन गरीब लोगों और विज्ञान के बीच की खाई को पाटने का काम इतना आसान नहीं है जितना कि प्रायः समझा जाता है। लोक संगीत-मनोरंजन

कार्यक्रमों और रेडियो आदि के द्वारा यह शिक्षा उन लोगों तक पहुंचाई जा सकती है। सबसे पहले तो उनमें जागरुकता आनी चाहिए। फिर पुरानी गर्द को साफ किए जाने की जरूरत है। अन्यथा कष्टों के बादल यूं ही मंडराते रहेंगे और गरीब लोग अशिक्षा, अज्ञान, अंधविश्वास और अस्वास्थ्यकर परिस्थितियों के बीच अपनी जिन्दगी गुजारते रहेंगे।

तेजी से बढ़ते पब्लिक स्कूल

आजकल हर कस्बे और शहर में पब्लिक स्कूलों की बढ़ती संख्या ने आम आदमी को मुसीबत में फंसा दिया है। बच्चे बस्ते के बढ़ते बोझ से परेशान हैं तो अभिभावकगण महंगी फीस का रोना रोते दिखाई देते हैं। इसके बावजूद भी शिक्षा का गिरता स्तर निश्चय ही हमें झकझोरने के लिए काफी है। केवल अंग्रेजी माध्यम से बच्चा पढ़ रहा है। यह कह कर ही सन्तोष नहीं किया जा सकता। मैकाले की बनाई शिक्षा पद्धति में क्या वाकई विकास सम्भव है? खासकर हमारे देश में जहां की समस्याएं और परिस्थितियां कुछ भिन्न प्रकार की हैं। हमारा उद्देश्य सिर्फ इसी बात में पूरा नहीं हो जाता कि पहले की तुलना में अब अधिक बच्चे स्कूलों में जा रहे हैं। वे वहां पर क्या पढ़ रहे हैं? यह भी देखा जाना आवश्यक है।

1986 की नई शिक्षा प्रणाली में इस बात की व्यवस्था की गई थी कि प्रारम्भिक स्तर की शिक्षा के मामले में सभी बच्चों के नामांकन और उन्हें स्कूल में बनाए रखने के अलावा शिक्षा की गुणवत्ता में भी उल्लेखनीय सुधार किए जाएंगे। ऐसी शिक्षा को बाल गतिविधियों से केन्द्रित होना चाहिए।

नई शिक्षा : सच्ची शिक्षा

अब तक शिक्षा का जो प्रभाव देखने में आता है उसमें निराशा, हिंसा और कुण्ठा की छाया स्पष्ट दिखाई देती है। किन्तु देश के पुनर्निर्माण के लिए एक ऐसी शिक्षा पद्धति चाहिए जो युवाओं को उनके अपने कल्याण से, समाज से कटने के स्थान पर जोड़ने का काम करे। वह शिक्षा केवल स्कूल कालेजों की परिधि में रहकर ही नहीं मिलती। वह तो विद्यार्थियों को हुनर सिखाती है ताकि वे रोजगार का मतलब केवल नौकरी करने भर से ही न लगाएं। विवेक शून्य होकर अपने भविष्य को चौपट होता न मान बैठें। हमारे देश की तरुणाई को जीने की सद्प्रेरणा देने वाला वातावरण बनाया जाना चाहिए। उनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हो साथ ही वे जानें की, उनके मौलिक अधिकारों के साथ-साथ उनके कर्तव्य क्या-क्या हैं? यह सभी सवाल हमारी शिक्षा और हमारे राष्ट्र के अस्तित्व से जुड़े हुए हैं।

जब तक शिक्षा को सच्चे अर्थों में जनता का आन्दोलन नहीं बनाया जाएगा तब तक शिक्षा को अनुशासन और जीवन दर्शन मे जोड़ पाना मुश्किल होगा क्योंकि आज उन तमाम मूल्यों के प्रति युद्ध छेड़ने की आवश्यकता महसूस हो रही है। जो स्वार्थ, अंधविश्वास और अहंकार जैसी भावनाओं का विनाश जड़ मूल से करने में बाधक बनते हैं। विज्ञान लोकतंत्र और परस्पर सौहार्द्र की शिक्षा यदि बचपन से बुढ़ापे तक मिलती रहे तो वही नई शिक्षा पद्धति होगी। उसे ही सच्चे अर्थों में शिक्षा कहा जा सकता है क्योंकि यही हमारे जीवन दर्शन, दृष्टिकोण और चिन्तन को बदल सकती है। उन्नति का अर्थ केवल यही तो नहीं है कि भौतिकवादी युग में साधन सम्पन्न होने के लिए ही सब कुछ किया जाए। जीवन में ऐसे भी महत्वपूर्ण क्षण आते हैं जिसमें नई शिक्षा-दीक्षा की ओर मुड़कर एक नई गति देनी होती है। यही यह समय है जबकि हम आने वाली चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए नई शिक्षा की शुरुआत करें।

शिक्षा प्रणाली में आमूल परिवर्तन करने की दृष्टि से नवगठित—शिक्षा नीति

समीक्षा समिति ने अध्ययन के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला है कि कुछ प्रमुख बिन्दुओं पर संशोधन किया जाए। लेकिन वे कौन-से बिन्दु हैं जिन पर आम सहमति हो गई है? उनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं—

- शिक्षा को समग्र रूप से देखा जाए। इसे अलग रूपों में बांटना उचित नहीं होगा।
- शैक्षिक विकास की योजना में मानव को राष्ट्रीय संसाधन मान लेना उचित नहीं है क्योंकि इन्सान उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।
- स्कूल से बाहर बच्चों तक भी स्कूल पहुंचे इसके लिए उसे स्कूल की चारदीवारी से बाहर निकलना होगा।
- बच्चों की देखभाल और शिक्षा को प्रारम्भिक शिक्षा के नियोजन का अभिन्न अंग बनाने की जरूरत है।
- प्रौढ़ शिक्षा की विषय वस्तु और प्रक्रिया को नए सिरे से पुनर्गठित किया जाए।
- प्रतिभाशाली बच्चों को बिना अलग-थलग किए बढ़ने के अवसर उपलब्ध हों।

इन सबके अतिरिक्त लोगों को काम के लिए सक्षम बनाया जाए। शैक्षिक अवसरों में समानता होनी चाहिए। वार्षिक परीक्षा के स्थान पर निरन्तर आन्तरिक मूल्यांकन प्रणाली को प्रोत्साहन दिया जाए। शैक्षिक प्रबन्ध को विकेन्द्रित किया जाए। इस मामले में शिक्षा के साथ शिक्षकों को भी नई रोशनी में देखा जाए। उनकी शर्तों को नजरअन्दाज करना उचित नहीं होगा।

एच-88, शास्त्री नगर,
मेरठ-250005 (उ. प्र.)

पुस्तक प्रदर्शनी

चित्र में प्रकाशन विभाग के निदेशक डा. श्याम सिंह शशि (मुख्य अतिथि के बाएं) तथा
पूर्व संयुक्त निदेशक श्री सीताराम खोड़ावाल (मुख्य अतिथि के बाईं ओर) प्रदर्शनी पुस्तकों का अवलोकन करते हुए।

सूचना और प्रसारण सचिव श्री सुरेश माथुर ने सुपर बाजार, कनाट प्लेस में प्रकाशन विभाग द्वारा आयोजित पुस्तक प्रदर्शनी में दस पुस्तकों के एक सैट का विमोचन किया। ये पुस्तकें हैं—गणित का जादूगर, पौराणिक बाल कथाएं (भाग-2), रानी लक्ष्मीबाई, (भारत की महान नारियां), कस्तूरबा गांधी (उपरोक्त), रानी दुर्गावती (उपरोक्त), मनु कथा भारती, लक्षद्वीप की समुद्री कथाएं, सन् सत्तावन के भूले-बिसरे शहीद (भाग-2), हमारे परमवीर तथा सुकमलय का त्याग। इनमें से तीन पुस्तकें भारतीय इतिहास में महिलाओं के योगदान से सम्बद्ध हैं। इस पुस्तक प्रदर्शनी का आयोजन राष्ट्रीय पुस्तक सप्ताह के अंतर्गत किया गया था।

इस अवसर पर सूचना और प्रसारण सचिव ने सुझाव दिया कि प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित पुस्तकें भारत आने वाले विदेशी राजनयिकों को भेंट की जानी चाहिए।

सचिव महोदय का स्वागत करते हुए, प्रकाशन विभाग के निदेशक डा. श्याम सिंह 'शशि' ने उन्हें विभाग की प्रगति और उपलब्धियों की जानकारी दी। आगन्तुकों की गहन रुचि को देखते हुए उन्होंने पुस्तक प्रदर्शनी की अवधि को दो दिन के लिए बढ़ा दिया। □

शिक्षा और व्यवसाय

'बेदिल' सरहदी

अंग्रेजी शब्द एजूकेशन को हिन्दी में शिक्षा कहा जाता है। एजूकेशन भी वास्तव में लैटिन भाषा के शब्द एडूको से बना है जिसका अंग्रेजी में अर्थ पालन-पोषण करना है। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो हम बच्चे के शारीरिक, मानसिक एवं चारित्रिक प्रशिक्षण को ही शिक्षा कह सकते हैं।

प्राचीन काल में हमारा जीवन साधारण तथा हमारे रहन-सहन का वातावरण सन्तुलित था। देश की आजादी से पूर्व मनुष्य का मूल्यांकन उसके आचरण से किया जाता था, परन्तु आज मनुष्य के सामाजिक स्तर को उसके बैंक बैलेन्स से आंका जाता है। इस संदर्भ में यह स्पष्ट कर देना उचित मालूम होता है कि समाज किसी अचल, मूक, ठोस या ठहरी हुई वस्तु का नाम नहीं है बल्कि यह एक ऐसे समूह का नाम है जिसमें मानव-जीवन के मूल्यों, उद्देश्यों एवं रहन-सहन के तौर-तरीकों में सामंजस्य पाया जाता है। समाज सामयिक परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है यह कभी पूर्ण नहीं होता बल्कि यह सदैव पूर्णता के आकार की ओर अग्रसर रहता है। एक ऐसी दुनिया में जहां प्रत्येक चीज बदलती रहती हो वहां किसी चीज के स्थायी या एक रूप में रहने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इन सब बातों से मेरा अभिप्राय यह है कि समय के साथ-साथ शिक्षा के लाभप्रद उद्देश्यों के संदर्भ में लोगों के विचारों में परिवर्तन होते रहना एक स्वाभाविक बात है। यहां यह उल्लेख कर देना भी अनुचित न होगा कि मनुष्य अपनी महत्ता को स्वयं बनाता है परन्तु शिक्षा के मूल्यों को समाज निश्चित करता है। उदाहरणतः अमेरिका में शिक्षा का मूल उद्देश्य लिखने और बोलने की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बढ़ावा देना है जबकि रूस जनसाधारण की भलाई के लिए लिखने एवं बोलने की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बलिदान कर सकता है। इसलिए वहां की शिक्षा व्यवस्था में सामाजिक व्यवस्था की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है।

कुछ भी हो हमारे देश में अंग्रेजों के शासन के दौरान शिक्षा के लाभदायक उद्देश्यों में व्यवसाय को जो प्राथमिकता प्राप्त हुई वह इससे पूर्व कभी नहीं थी। अंग्रेजों ने जब हिन्दुस्तान पर कब्जा किया तो उन्होंने एक ऐसी शिक्षा प्रणाली की नींव रखी जिसका मात्र उद्देश्य उनकी दफ्तरी व्यवस्था को चलाने के लिए पढ़े-लिखे 'बाबू' तैयार करना था। इसका प्रमाण लार्ड मैकाले के लेखों में भी मिलता है कि "हमें एक ऐसा वर्ग तैयार करना है जो रंग और नस्ल से तो बेशक हिन्दुस्तानी हो परन्तु विचारधारा एवं पहनावे से अंग्रेजी हो।" इसका परिणाम यह हुआ कि बच्चों की शिक्षा पाठ्यक्रम में निर्धारित पुस्तकों की रटाई और शिक्षा के प्रमाण-पत्रों की प्राप्ति तक सीमित हो गई। शिक्षा का उद्देश्य केवल दफ्तरों में नौकरी हासिल करना समझा जाने लगा। विद्यार्थी यह समझने लगे कि उनका मुख्य कर्तव्य बस रट रटाकर परीक्षा पास करना है और अध्यापक इस नासमझी में ग्रस्त हो गए कि उनका कार्य शिक्षा के माध्यम से बच्चों को दफ्तरों की नौकरी के लिए तैयार करना है। इसलिए बच्चों के मस्तिष्क, किताबों में दी गई जानकारी, गिनती और पहाड़ों के बोझ तले दबते चले गए। निःसन्देह अंग्रेजों ने अपने शासनकाल यानी 1858 से 1947 तक शिक्षा प्रणाली में सुधार के लिए दिखावे के तौर पर बहुत-सी कमेटियां और कमीशन स्थापित किएं लेकिन उनकी सिफारिशों पर अमल करने में हमेशा उनकी स्वार्थपूर्ण भेद-नीति हावी रही। हमारे विद्वान वर्ग में शिक्षा प्रणाली के दोष पूर्ण होने का आभास उस समय भी था परन्तु वे मजबूर थे क्योंकि उस समय अंग्रेजों की स्वार्थपूर्ण नीति शिक्षा के सुधार के पक्ष में नहीं थी।

यहां दरिद्रता के मारे उन घरानों के बच्चों की शिक्षा का उल्लेख तो निरर्थक है जिनके बच्चों की शिक्षा तो एक ओर रही बल्कि पेट भर खाना भी नहीं मिल पाता था, अपितु मध्यम वर्ग के उन माता-पिता का उल्लेख कर देना आवश्यक मालूम होता है जिन्होंने शिक्षा का उद्देश्य केवल बच्चों को कमाई के योग्य बनाना समझ लिया था जिनके दिमागों में यह बात घर कर गई थी कि उनके बच्चे विशेष स्कूलों में इस तरह की शिक्षा ग्रहण करें जो उन्हें शीघ्रातिशीघ्र किसी पदवी पर पहुंचा दे। जिन्होंने अपने बच्चों के रुखे-सूखे भविष्य की तैयारी की लालसा के अन्तर्गत उन्हें ऐसे विषयों के प्रशिक्षण के लिए विवश किया जो अच्छे व्यवसाय के लिए सहायक सिद्ध हों, चाहे उनके बच्चे स्कूल की शिक्षा का व्यापक रूप से कोई उद्देश्य ही न समझते हों। निःसंदेह शिक्षा के उद्देश्यों में व्यवसाय की समस्या को कदापि अनदेखा नहीं किया जा सकता। जनता को इस बात की आशा रखने का पूर्ण अधिकार है कि उनके बच्चे पढ़ने-लिखने के पश्चात अपने पैरों पर खड़े हो सकें या कोई ऐसी कला सीख लें जो उन्हें अपने पैरों पर खड़ा होने के योग्य बना दें, परन्तु जनता को इस बात का अधिकार प्राप्त नहीं है कि वह शिक्षा का

उद्देश्य मात्र व्यवसाय का साधन समझ लें और व्यवसाय की समस्या को प्राथमिकता का दर्जा देकर बच्चों को निर्मल या स्वच्छ चरित्र, अच्छे आचरण और सभ्यता के मूल्यों से परिचित न होने दे। बच्चों को शुरू ही से काम में लगा कर उनको अच्छे नागरिक बनने और उनके चारित्रिक विकास में बाधाएं खड़ी कर दें। उनकी अभिरुचियों, स्वाभाविक या प्राकृतिक गुणों को एकदम नजर-अंदाज कर दें जिससे वे समाज का अच्छा सदस्य बनने की बजाय सोसायटी के लिए कठिनाई एवं कष्ट का कारण बन जाएं, उन्हें अपनी किताबों से प्रेम न रहे, उनके दिलों में अध्यापकों के प्रति आदर का भाव न रहे, वे कठिन और उदासीन कर देने वाली शिक्षा के कारण स्कूली अध्ययन से हार्दिक घृणा दर्शाने लगें या फिर वे किताबों के मारे हुए, व्याकुलता के प्रतीक दिखाई देने लगें, उनकी वृत्ति में असंतोष व्याप्त हो जाए और उनकी गणना सोसायटी के अस्वस्थ व्यक्तियों में होने लगे। इस संदर्भ में 'बरनार्ड शा' के दृष्टिकोण का उल्लेख कर देना उपयुक्त होगा कि "सोसायटी के बीमार व्यक्ति एक बीमार कौम ही पैदा करते हैं ऐसी कौम मानव जीवन के लिए एक अभिशाप है।" यहां इस तथ्य की व्याख्या भी आवश्यक मालूम होती है कि शिक्षा की कोई पूर्ण या सन्तुलित व्यवस्था बच्चों को केवल किताबी शिक्षा दे देने को ही पर्याप्त नहीं समझती बल्कि उनमें सहानुभूति, सामंजस्य, मार्गदर्शन, आधुनिकीकरण एवं रचनात्मक योग्यताओं को भी उजागर करती हैं। बच्चे इन गुणों के साथ शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्राप्त किए बिना शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य से किसी भी प्रकार लाभान्वित नहीं हो सकते।

देश की आजादी के पश्चात 1948 में डा. राधाकृष्णन के पथ-प्रदर्शन में यूनिवर्सिटी एजूकेशन कमिशन स्थापित हुआ जिसने हमारी शिक्षा-पद्धति की बुनियादी त्रुटियों पर प्रकाश डाला और उन्हें दूर करने के लिए बहुत-से रचनात्मक सुझाव प्रस्तुत किए।

1952 में डा. लक्ष्मना स्वामी अय्यर की अध्यक्षता में सेकेन्डरी एजूकेशन कमिशन की स्थापना हुई जिसने स्कूलों में व्यवसाय की शिक्षा को शामिल करने तथा शिक्षा का माध्यम मातृभाषा निश्चित करने पर बल दिया। इस दौरान स्कूलों और विद्यार्थियों की संख्या में तो काफी वृद्धि हुई परन्तु शिक्षा का स्तर गिर गया।

इसके पश्चात 1964 से 1966 तक डा. कोठारी कमीशन कायम रहा जिसने देश की शिक्षा प्रणाली के संदर्भ में अपनी सिफारिशें प्रस्तुत कीं परन्तु शैक्षिक सुधार के विषय में स्थापित किए गए इन कमिशनों की सिफारिशों पर अमल करने के सम्बन्ध में प्रायः लापरवाही बरती गई इसलिए कोई अच्छा परिणाम सामने नहीं आया। इस संदर्भ में की गई निराशाजनक कार्यप्रणाली को हम ज्यादा-से-ज्यादा नाममात्र की प्रगति की संज्ञा ही दे सकते हैं।

- आज भी हमारी शिक्षा का ढांचा लगभग वही है जो अंग्रेजों के जमाने में था।
- आज भी हमारी शिक्षा का पाठ्यक्रम अपने ऊपर सदियों से पड़ी हुई धूल की सफाई के लिए हम से फरियाद करता हुआ मालूम होता है।
- आज भी हमारी शिक्षा के प्रचलित तरीके दोषपूर्ण हैं जो समाज की आवश्यकताओं को पूरा नहीं करते।
- आज भी घिसे-पिटे शिक्षा के तरीकों के कारण हम मानवता को उचित रूप नहीं दे सकते।
- आज भी मध्यम वर्ग के अधिकतर व्यक्तियों के मस्तिष्कों में अपने बच्चों को ऊंची शिक्षा दिलवाने का उद्देश्य सरकारी या प्राइवेट नौकरियों की प्राप्ति तक ही सीमित है।
- आज भी व्यवसाय की समस्या के संबंध में कुछ एक व्यक्तियों को छोड़कर कोई भी व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार उचित स्थान पर कार्यरत नहीं है।
- आज भी हमारा समाज शिक्षा के पवित्र व्यवसाय को ऐसे लोगों को सौंपने के लिए मजबूर है जिनकी विचारधारा अप्रमाणित, अस्वस्थ एवं घिसी-पिटी है।
- आज भी शिक्षा बच्चों और माता-पिताओं के लिए एक बोझ है।
- आज उचित वातावरण न दे पाने के कारण हम सामाजिक-व्यवस्था की रक्षा नहीं कर सकते।

डा. वाटसन का कहना है कि "यदि उचित वातावरण दिया जा सके तो किसी भी बच्चे को हम उसकी इच्छा के अनुसार डाक्टर, वकील, प्राचार्य, वैज्ञानिक, अभियन्ता या कलाकार आदि बना सकते हैं।" डा. वाटसन के इस विचार से कुछ शिक्षा विशेषज्ञ सहमत नहीं भी हो सकते परन्तु हम उचित वातावरण के लाभकारी प्रभावों को नकारने का साहस भी नहीं कर सकते। आज उचित वातावरण प्रदान करने और घिसी-पिटी शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन की अति आवश्यकता है। इस संदर्भ में ढिलाई से काम लेना या वर्तमान स्थिति को इस प्रकार रहने देना मेरे विचार में देश और कौम की प्रगति, खुशहाली और बेहतरी में रुकावट की सम्भावनाओं को निश्चित बनाने के समान है।

ए-371 नेहरू विहार, दिल्ली-54

ग्रामीण क्षेत्रों में व्याप्त अशिक्षा की समस्याएं एवं समाधान

कृष्ण कान्त पाठक

भारत गांवों का देश है और 78.81 प्रतिशत जनता आज भी गांवों में जीवन यापन कर रही है। अतः राष्ट्र के विकास के लिए यह आवश्यक है कि हम गांवों का विकास करें। इस दिशा में हमारी सरकार सतत् प्रयत्नशील रही है, परन्तु वांछित सफलता नहीं मिल पाई है। फिर भी ग्रामीणों के रहन-सहन में काफी सुधार हुआ है। हमारे देश में ग्रामीण क्षेत्र से निर्धनता, बेरोजगारी, असमानता व पिछड़ेपन की समस्याओं के निवारण के लिए किए जाने वाले प्रयासों को एक नई दिशा 2 अक्तूबर 1952 से प्रदान की गई, जब देश में सामुदायिक विकास कार्यक्रम प्रारंभ किया गया। इस कार्यक्रम में ग्रामीण क्षेत्रों में समग्र विकास प्रारम्भ किया गया। इस कार्यक्रम के क्रियान्वयन से ग्रामीण क्षेत्रों की अनेक समस्याओं एवं दुर्बलताओं का ज्ञान हुआ और तदनुसार ग्रामीण विकास के क्षेत्र में अनेक प्रयोग हुए।

प्रकृति प्रदत्त इस मानव शरीर अथवा मानव जीवन को समुचित रूप से परिष्कृत करके सार्थक बनाने का सशक्त माध्यम शिक्षा है। इसी दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान समय में देश-प्रदेश में सुनियोजित शैक्षिक विकास हेतु सुलभ वित्तीय संसाधनों का अनुपातिक दृष्टिकोण से अधिकांश शिक्षा के लिए प्रावधान किया जा रहा है। देश के परिवर्तित परिवेश और वर्तमान सामाजिक अपेक्षाओं के अनुरूप विभिन्न प्रकार की योजनाओं/परियोजनाओं के क्रियान्वयन के साथ-साथ शैक्षिक नीति में परिवर्तन एवं उन्नत परिवर्द्धन के लिए सतत् प्रयास चलाया जा रहा है।

अब तक शिक्षा के लिए बनाई गई योजनाओं और परियोजनाओं में इस बात के लिए सतत् एवं उत्कृष्ट प्रयास किए गए हैं कि इनके क्रियान्वयन के माध्यम से शिक्षा की विषय वस्तु में परिवर्तन, अध्यापन की उन्नत पद्धतियों की ग्राह्यता, संशोधन और परिवर्तन द्वारा परीक्षा प्रणाली में स्तरोन्नयन पाठ्य पुस्तक अध्ययन एवं अध्यापन और प्रशिक्षण में प्रत्याशित सुधार लाया जा सके।

भारत सरकार द्वारा शिक्षा की चुनौती नीति सम्बंधी परिप्रेक्ष्य नामक दस्तावेज प्रसारित होने पर जनपद स्तर, मण्डल स्तर एवं प्रदेश स्तर पर विचार गोष्ठियां आयोजित की गईं। इन गोष्ठियों में प्राप्त सुझावों एवं संस्तुतियों का संकलन किया गया। प्रदेश स्तर पर आयोजित प्रतिभागियों द्वारा शिक्षा के विभिन्न स्तरों एवं आयामों जैसे—प्राथमिक शिक्षा, प्रौढ़ एवं सतत् शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, रोजगारपरक शिक्षा, महिला शिक्षा, परीक्षा पद्धति, उच्च शिक्षा, शिक्षक, प्रशिक्षण, वित्तीय संसाधनों की व्यवस्था तथा पाठ्यक्रम एवं पुस्तकों के निर्माण आदि पर गम्भीरतापूर्वक विचार विमर्श किया गया।

भारत सरकार की एक दूसरी योजना विकलांग शिक्षा भी संचालित की गई है। इस योजना के अंतर्गत आंशिक रूप से विकलांग बच्चों को सामान्य बच्चों के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए, समेकित शिक्षा प्रदान करते हुए यह योजना भारत सरकार द्वारा शत-प्रतिशत सहायता के रूप में संचालित की जा रही है।

शिक्षा के स्वरूप में परिवर्तन

प्राचीन काल में शिक्षा का सम्बंध पूर्णरूपेण ज्ञान से था। बालकों को अधिकाधिक मात्रा में ज्ञान देना परम लक्ष्य था। कुछ लक्ष्यों, सूत्रों एवं सिद्धांतों को कंठस्थ करना पड़ता था और इसे ही शिक्षा का इति श्री मान लिया जाता था। शिक्षा का उद्देश्य जीवन की उन्नति करना न था, बल्कि परलोक सुधारना और मुक्ति प्राप्त करना था। शिक्षा बल केन्द्रित न होकर ज्ञान केन्द्रित होती थी।

आधुनिक काल में शिक्षा का तात्पर्य व्यवहार में परिवर्तन से है। आज का शिक्षार्थी समाज के एक इकाई के रूप में माना जाता है, जिसके द्वारा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का विकास होता है। उसके व्यवहारों तथा विचारों में निरन्तर परिवर्तन, परिमार्जन एवं परिवर्द्धन होता है और अपनी सभ्यता एवं संस्कृति को उसे सुरक्षित रखने और उसके विकास करने में समर्थ होता है।

शिक्षा का उद्देश्य

भारत सरकार द्वारा 1986 में शिक्षा के लिए बनाई गई राष्ट्रीय शिक्षा नीति में छात्रों के चरित्र निर्माण पर ज्यादा बल नहीं दिया गया है। आज समाज वैज्ञानिक युग में प्रवेश कर आविष्कार के शिखर की ओर तो बढ़ता जा रहा है परन्तु लोगों में नैतिकता व मानवता का सर्वत्र अभाव देखने को मिल रहा है। चरित्र जीवन का अनमोल रत्न है। इसका सम्बंध नैतिक मूल्यों

एवं समाज के नियमों से है। एक विद्यार्थी का चरित्र उस समय अच्छा समझा जाता है जब कि यह नैतिक स्तरों के अनरूप कार्य करता है और विद्यालय के प्रत्येक नियमों का पालन करता है और जो व्यवहार वह आगे चलकर अपनाता है, वह नैतिक मूल्यों से प्रेरित होता है।

परन्तु यह अत्यंत ही दुःख की बात है कि आज के शिक्षाक्रम में चरित्र गठन या निर्माण का न कोई स्थान है न महत्व। प्राचीनकाल में गुरु से शिष्य विद्योपार्जन करता था और वह नैतिक मूल्यों एवं मर्यादाओं एवं मापदण्डों को जीवन में बराबर कायम रखने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होता था। आज की शिक्षा में चरित्र के लिए कोई स्थान नहीं है। अधिकाधिक अंक प्राप्त करने वाला छात्र प्रथम घोषित किया जाता है भले ही उसमें लाख बुराइयां हों। कहने का तात्पर्य है कि उसके मूल्यांकन में उसके ज्ञान का महत्व दिया जाता है न कि उसके गुणों का। आज समाज में पनपती हुई जो बुराइयां नजर आ रही हैं, उसके लिए बहुत हद तक शिक्षा को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा के द्वारा चरित्र निर्माण आसानी से किया जा सकता है। जिस देश का चारित्रिक मापदण्ड ऊंचा है, वह देश महान होता है। उसका यश-सौरभ सारे संसार में फैल जाता है। शिक्षा चरित्र निर्माण का एक प्रभावशाली साधन है। वास्तव में चरित्र निर्माण एवं राष्ट्र निर्माण एक ही तथ्य के दो पहलू हैं। अतः हमें इस दिशा में भी प्रयास करना चाहिए ताकि नैतिकता के पतन को रोका जा सके तथा भारतीय संस्कृति के अनुरूप लोगों के चरित्र को ढाला जा सके।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में शिक्षा की मुख्य भूमिका यह होनी चाहिए कि वह गतिहीन समाज में विकास और परिवर्तन लाकर समाज के व्यक्तियों के सर्वांगीण विकास का स्वरूप उत्पन्न कर सके। समाज की संरचना, उसकी वर्तमान विभिन्न आवश्यकताओं का आकलन कर भविष्य हेतु एक रूपरेखा की संरचना का एक स्वरूप, सफल समाज की नींव डालना शिक्षा का परम उद्देश्य होना चाहिए।

भारत सरकार द्वारा 1986 में बनाई गई शिक्षा नीति के उद्देश्य तो प्रशंसनीय हैं, परन्तु उसमें ग्रामीण क्षेत्रों में फैली अशिक्षा की समस्या के समाधान के लिए कोई उल्लेख नहीं किया है। अतः ग्रामीण क्षेत्र के अशिक्षित प्रौढ़ों को शिक्षित करने तथा ग्रामीण बालक/बालिकाओं को विद्यालय जाने के लिए प्रेरित करने के लिए अभियान चलाया जाना चाहिए अन्यथा राष्ट्र का तीव्र आर्थिक विकास सम्भव नहीं है। राष्ट्र के तीव्र आर्थिक विकास और सामाजिक प्रगति में बराबर का भागीदार होने के लिए यह आवश्यक है कि ग्रामीण लोगों को विश्व में हो रहे अनेकों वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक विकास के बारे में न केवल पूरी-पूरी जानकारी दी जाए बल्कि उसके लाभ से भी अवगत कराया जाए।

ग्रामीण विकास में साक्षरता का महत्व

शिक्षा की कमी के कारण ही आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में अनेक सामाजिक कुप्रथाएं विद्यमान हैं। इसके अलावा निर्धनता, धार्मिक अन्धविश्वास, जनसंख्या वृद्धि आदि के मूल में भी अशिक्षा ही है। साक्षरता और विकास का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। संसार के जितने भी विकसित देश हैं उनमें साक्षरता की दर बहुत ऊंची है। यदि देश में साक्षरता ज्यादा होगी तो उसका असर विकास के हरेक क्षेत्र पर पड़ेगा।

ग्रामीण विकास के लिए अभी तक जो भी किया गया है, उसे संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। इसी वजह से देश की सर्वाधिक आबादी वाला ग्रामीण क्षेत्र आज भी पिछड़ा हुआ है। ग्रामीण विकास के लिए कोई भी योजना बनाते समय उसके परिवेश पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

राष्ट्रीय साक्षरता अभियान के अन्तर्गत प्रत्येक गांव या मौहल्ले के स्तर पर एक प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र की स्थापना होनी चाहिए। ग्रामीण क्षेत्र के लोगों को शिक्षित करने के लिए उनके साथ उठ-बैठकर, घुलमिलकर उनकी ही भाषा में बातें समझानी होंगी, तभी वे रुचि ले सकते हैं। इसके लिए गांवों में प्रौढ़ शिक्षा व बाल शिक्षा के लिए शिक्षकों को भी उपयुक्त प्रशिक्षण देने की आवश्यकता है। गांवों में अशिक्षा के साथ ही बेरोजगारी और निर्धनता भी बहुत अधिक है। गांवों के निर्धन और बेरोजगार लोगों को केवल बड़े-बड़े सिद्धांतों और आदर्शों की बात सुनाकर ही संतुष्ट नहीं किया जा सकता, बल्कि उन्हें यह बात समझाने की आवश्यकता होगी कि आप लोगों की निर्धनता व बेरोजगारी की समस्या शिक्षा के द्वारा ही दूर की जा सकती हैं।

ग्रामीण महिलाओं को साक्षर करने का महत्व

हमारे देश में बेरोजगारी की समस्या बहुत पुरानी है, लेकिन शिक्षित महिलाओं की बेरोजगारी की समस्या बहुत उग्र है, जबकि शिक्षित महिलाओं की संख्या बहुत ही कम है। ग्रामीण क्षेत्रों में निरक्षर महिलाओं की संख्या सर्वाधिक है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भारत में राष्ट्रीय विकास के लिए स्त्रियों की शिक्षा को सबसे आवश्यक समझा जाता है। औपचारिक और अनौपचारिक दोनों तरह की शिक्षा किसी भी समाज में जनता के ज्ञान, कुशलता व क्षमता बढ़ाने का सबसे बड़ा साधन है।

यदि गांवों में महिलाओं को साक्षर बनाने के लिए ईमानदारीपूर्वक कोशिश की जाए तो ग्रामीण क्षेत्र की बहुत-सी

समस्याएं अपने आप हल हो जाएंगी। महिलाओं की शिक्षा पुरुषों की शिक्षा से ज्यादा महत्वपर्ण है परन्तु विडम्बना यह है कि आज निरक्षर पुरुषों की तुलना में अशिक्षित महिलाओं की संख्या ज्यादा है विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में।

सन् 1901 से 1981 तक साक्षरता की दर प्रतिशत में इस प्रकार रही :

पुरुष एवं महिला साक्षरता

साक्षरता की दर प्रतिशत में

वर्ष	पुरुष	महिला	व्यक्ति
1901	9.83	0.60	5.35
1941	24.95	7.93	16.67
1961	34.44	12.95	24.02
1981	46.89	24.82	36.23

गांवों में महिलाएं रूढ़िवादी हैं। वे स्वयं तो अशिक्षित रहती हैं, अपने बच्चों को भी शिक्षा दिलाना नहीं चाहतीं। अशिक्षित महिलाएं बालिकाओं को घर से बाहर जाने देना ही पसन्द नहीं करतीं। उनका कहना है कि जब महिलाओं को घर-गृहस्थी का कार्य ही करना है तो पढ़ाई की क्या आवश्यकता है। यही कारण कि ग्रामीण क्षेत्रों में साक्षरता कम है, निरक्षरता बहुत ज्यादा है। हम कह सकते हैं कि निरक्षरता ग्रामीण क्षेत्रों के लिए अभिशाप और ग्रामीण विकास में सबसे बड़ी रुकावट है। गांवों में गरीबी इसलिए ज्यादा है, क्योंकि वहां पर निरक्षर लोग ज्यादा हैं। शहरों में साक्षरता दर 57.40 प्रतिशत है जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में साक्षरता केवल 29.50 प्रतिशत है।

अतः ग्रामीण क्षेत्रों में प्रौढ़ शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है। यदि महिलाएं शिक्षित हो गईं तो रहन-सहन आदि में आमूल परिवर्तन हो जाएगा। प्रौढ़ शिक्षा के द्वारा किसानों को शिक्षित किया गया तो वे असहाय नहीं रह जाएंगे। वे नई-नई कृषि तकनीक का प्रयोग कर अपने कृषि उत्पादन को भी बढ़ा सकते हैं।

राष्ट्रीय जन साक्षरता अभियान

5 मई 1986 को राष्ट्रीय जन साक्षरता कार्यक्रम के अन्तर्गत निरक्षरता उन्मूलन के लिए एक समयबद्ध व्यापक राष्ट्रीय अभियान की शुरुआत की गई। इस अभियान के अन्तर्गत 15 से 35 वर्ष की आयु वर्ग के कुल 8 करोड़ लोगों में से 3 करोड़ को 1990 तक और 5 करोड़ को 1995 तक औपचारिक शिक्षा दिलाने की व्यवस्था की जानी है। इसमें राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता, पर्यावरण संरक्षण, परिवार नियोजन जैसे विषयों पर बल दिया जाएगा। इस अभियान में निरन्तर शिक्षा की एक नई अभिकल्पना 'जन शिक्षा निलयम' भी सम्मिलित है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद प्रौढ़ व्यक्तियों को शिक्षित करने के लिए सबसे पहले 1978 में महात्मा गांधी के जन्म दिन 2 अक्तूबर को सारे देश में एक कार्यक्रम की शुरुआत की गई थी। अभी तक अपने देश को पूर्णतया साक्षर बनाने का कार्यक्रम प्रौढ़ शिक्षा परियोजना आदि के माध्यम से चलाया गया था, परन्तु यह कार्यक्रम अपने अपेक्षित लक्ष्यों को प्राप्त न कर सका। कारण यह रहा कि प्रौढ़ साक्षरता जैसे कार्यक्रम को सरकारी संस्थाएं कदाचित सफलतापूर्वक नहीं चला सकती हैं। यह जन आन्दोलन के माध्यम से ही सम्भव है। जब तक प्रबुद्ध वर्ग का हर व्यक्ति, हर जागरूक नागरिक आगे बढ़कर अपने निरक्षर भाई, बहन, माता, पिता का हाथ न थामेंगा, उसे प्रेरित कर साक्षर बनाने का प्रयत्न न करेगा, तब तक अपना गौरवशाली देश यूं ही पिछड़ा रहेगा। जरूरत इस बात की है कि हम सब जुट जाएं और इस राष्ट्रीय जन आन्दोलन में कूद जाएं।

भारत सरकार द्वारा देश के कुछ क्षेत्रों का चयन कर उसमें शिक्षा के दृष्टिकोण से अत्यन्त पिछड़े जनपदों की निरक्षरता को दूर करने के लिए किया गया है तथा इस वर्ष महात्मा गांधी के जन्मदिन 2 अक्तूबर 90 से 'राष्ट्रीय साक्षरता मिशन' के तत्वावधान में जन साक्षरता अभियान चलाया गया। इस अभियान में तीन स्वयंसेवी संगठनों ने विशेष योगदान किया है। भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय के अन्तर्गत संचालित भारत ज्ञान-विज्ञान समिति व नेहरू युवा केन्द्र तथा उत्तर प्रदेश सरकार के युवा कल्याण विभाग के अन्तर्गत संचालित युवक मंगल दल व महिला मंगल दल कार्य रहे हैं।

वर्तमान कार्यक्रम को प्रभावी बनाने हेतु पढ़ने-लिखने के अतिरिक्त व्यावसायिक दक्षता जागृत करने पर अधिक बल दिया गया। प्रतिभागियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए कृषि, पशुपालन, स्वास्थ्य विभाग की योजनाओं की जानकारी दी गई। विज्ञान व तकनीक व अन्य अनुसंधान द्वारा कार्यक्रम में तेजी लाने तथा टेलीविजन, रेडियो, समाचार-पत्रों और कैसेट्स आदि का प्रयोग कर कार्यक्रम को रोचक व प्रभावी बनाने की योजना है।

इस अभियान के सफलतापूर्वक संचालन हेतु हर गांव में एक शिक्षा समिति बनानी होगी, जिसका अध्यक्ष प्रधान या ग्राम सभा का कोई अन्य सदस्य हो सकेगा। इस शिक्षा समिति में उस गांव में रहने वाला हर प्रधानाचार्य, अध्यापक एवं हर शिक्षित उत्साही स्वयं सेवक इस समिति के सदस्य हो सकते हैं जो

ग्रामवासियों की मदद करने के इच्छुक हों। इस कार्यक्रम में स्वयंसेवी संगठनों की भूमिका सराहनीय है।

स्वयंसेवी संस्थाओं के सहयोग से सरकार ग्रामीण क्षेत्र में साक्षरता अभियान में सफल होगी तथा इसके साथ ही ग्रामीण विकास की संभावनाएं भी अधिक होंगी, जो अभी भी धूमिल हैं।

निरन्तर महंगी हो रही शिक्षा

निरन्तर बढ़ रही महंगाई का असर शिक्षा पर भी पड़ना स्वाभाविक है परन्तु हमें इस पहल पर विचार करना आवश्यक है कि शिक्षा इतनी महंगी क्यों हुई? और क्या इसे जन साधारण के लिए सुलभ नहीं बनाया जा सकता? शिक्षा के महंगाई को दो कारक पूरी तरह प्रभावित करते हैं—एक शिक्षण शुल्क व दूसरी पाठ्य-पुस्तकें। जहां तक सरकार की नीतियों की बात है उसमें सरकार को दोषी नहीं ठहराया जा सकता, कारण कि हाईस्कूल तथा इण्टरमीडिएट तक निम्न शिक्षण शुल्क व सरकारी पाठ्य-पुस्तकों के द्वारा शिक्षा को सुलभ बनाने का प्रयास किया गया परन्तु लापरवाही के कारण शिक्षा-सत्र के प्रारम्भ में न तो ये पाठ्य-पुस्तकें सुलभ हो पाती हैं और न उन विद्यालयों में शुल्क ही कम लिया जाता है। शिक्षण शुल्क से दुगना-तिगुना शुल्क छात्रों को जमा करना पड़ता है।

बेसिक प्राइमरी पाठशालाओं में भवन व टाट की अनुपलब्धता तथा शिक्षकों के समय से विद्यालय न आने के कारण अभिभावक उन विद्यालयों में अपने पाल्यों को भेजकर उनके जीवन को अन्धकारमय बनाना नहीं चाहते। इन कमियों को दूर करने के लिए राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के 'प्रोग्राम आफ एक्शन' के अन्तर्गत समस्त प्राथमिक विद्यालयों में 'आपरेशन ब्लैक बोर्ड' अभियान के अन्तर्गत प्रयास किया गया है कि विद्यालय की इमारत ठीक हो, सफाई की व्यवस्था ठीक हो, बैठने के लिए अच्छे किस्म की टाट-पट्टी हो और शिक्षा सामग्री की पर्याप्त व्यवस्था हो। इस परियोजना के तहत विद्यालयों को टी. वी. सैट, रेडियो कम कैसेट्स प्लेयर्स दिए जा रहे हैं।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में शिक्षा ग्रहण करना इतना महंगा है कि ग्रामीण क्षेत्र के साधारण परिवार का कोई युवक इस लाभ से सदैव वंचित ही रहेगा। यही कारण कि ग्रामीण क्षेत्रों से विज्ञान और प्रौद्योगिकी की उच्च शिक्षा ग्रहण करने वालों की संख्या सदैव कम रही है।

अतः ग्रामीण क्षेत्र के विकास के लिए विशेष रियायत की व्यवस्था की जानी चाहिए। दूसरा कारण यह है कि मैडिकल व इंजीनियरिंग कालेज अभी तक बड़े-बड़े शहरों में स्थापित किए गए हैं, जहां पर रहकर शिक्षा ग्रहण करना और कठिन हो जाता है। अतः सरकार को अब इस प्रकार के विद्यालय खोलते समय ग्रामीण क्षेत्रों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए, जिससे कि कम खर्च पर उच्च शिक्षा ग्रामीण छात्रों के लिए सुलभ हो सके।

पब्लिक विद्यालयों में उत्तरोत्तर वृद्धि

सरकारी प्राथमिक विद्यालयों में शिक्षा का स्तर गिरने के कारण ही पब्लिक विद्यालयों का उदय हुआ। पहले इनकी संख्या बहुत ही सीमित थी, परन्तु इस दशक में तो इन विद्यालयों की बाढ़-सी आ गई है। शायद ही देश का कोई शहर हो जहां पर प्रत्येक वर्ष इस प्रकार के एक-दो विद्यालय नहीं खुलते हों। मजे की बात यह है कि इन विद्यालयों को चलाने के लिए कोई विशेष योजना भी बनाने की आवश्यकता नहीं। बस अपना मकान होना चाहिए, जिसमें चार-पांच कमरे या बरामदा हो। विद्यालय के लिए मान्यता लेने के लिए भी नहीं सोचना है, कारण कि उसमें मान्यता की बहुत सारी शर्तें पूरी करनी पड़ेंगी क्योंकि मामूली फीस पर वे उन सारे लड़कों का नामांकन किसी नजदीकी सरकारी विद्यालय में करा देते हैं। उन विद्यालयों में पढ़ाने वाले अध्यापकों के वेतन के भी बारे में नहीं सोचना है, क्योंकि बेरोजगार स्नातक एवं स्नातकोत्तर युवक डेढ़ सौ-ढाई सौ रुपये में पढ़ाने के लिए तैयार मिल जाते हैं। इस प्रकार के विद्यालय के प्रबन्धक अर्थात् मकान मालिक को भी छात्रों की संख्या बढ़ाने की कोई चिन्ता नहीं होती। वह नियुक्त अध्यापकों से कह देता है कि मेरे मकान का किराया इतना काटकर शेष रुपयों को आप लोग आपस में बांट लीजिए। जितनी छात्र संख्या अधिक रहेगी, लाभ आप लोगों को उतना ही ज्यादा होगा। अध्यापकों के इस प्रकार हो रहे शोषण को रोकने के लिए सरकार ने अनेक प्रयास किए। यहां तक कि इन विद्यालयों को श्रम कानून के अन्तर्गत लाकर उस जनपद के श्रम अधिकारी को यह अधिकार दिया गया कि अगर कोई विद्यालय व्यवस्थापक श्रम कानून के नियमों का पालन नहीं करता है तो उसके विरुद्ध श्रम कानून के उलंघन करने का मुकदमा चलाएं। पब्लिक क्षेत्र के इन संस्थाओं के व्यवस्थापकों ने वेतन भुगतान का दोहरा रिकार्ड रखना शुरू कर दिया है। प्रत्येक महीने में भुगतान तिथि को दोनों भुगतान पंजिकाओं पर अध्यापक हस्ताक्षर करता है। समय-समय पर श्रम अधिकारी द्वारा उस वेतन भुगतान का निरीक्षण कर, यह सुनिश्चित किया जाता है कि श्रम कानून के नियमों का पालन किया जा रहा है। इस प्रकार इन विद्यालयों पर श्रम कानून पूर्णतया बेअसर है।

पब्लिक विद्यालयों की ओर अभिभावकों के झुकाव का मुख्य कारण यह है कि ये सुयोग्य अध्यापक बड़ी लगन व कड़ी मेहनत के साथ अध्यापन का कार्य करते हैं, कारण कि इनके ऊपर

सम्बन्धित प्रबन्धक का दबाव बराबर बना रहता है। इन विद्यालयों में शिक्षा का जो स्तर है, उस पर अभिभावकों को संतोष है, जबकि उनको इसके लिए शुल्क व पाठ्य-पुस्तकों का मूल्य अधिक खर्च करना पड़ता है। महंगी शिक्षा के बावजूद अभिभावक शिक्षा के लिए सरकारी विद्यालयों में अपने बच्चों को न भेजकर इन्हीं विद्यालयों में भेज रहे हैं। कई बार सरकार में गम्भीरता से विचार किया कि इन विद्यालयों पर पूर्णरूप से रोक लगा दी जाए, परन्तु सवाल पैदा हो गया कि क्या हम इन विद्यालयों में अध्ययनरत बालकों को सरकारी विद्यालयों में स्थान दे पाएंगे? उत्तर मिला नहीं।

उपर्युक्त तमाम विश्लेषण करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सरकारी प्राथमिक विद्यालयों में अध्यापकों को समय पर जाने के लिए नियम बनाएं जाएं और इसका उलंघन करने वालों को सख्त-से-सख्त दंड दिया जाए। साथ-ही-साथ पब्लिक सेक्टर के इन विद्यालयों में भी वेतन भुगतान की व्यवस्था अर्द्धसरकारी विद्यालयों की भांति बैंक द्वारा कराई जाए।

सरकार ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों में साक्षरता अभियान के तहत शिक्षित करने का कार्य तेजी से लागू करे तथा यह भी ध्यान देना आवश्यक है कि कहीं नई पीढ़ी के बच्चे विद्यालय न जाकर आगे भी प्रौढ़ शिक्षा की समस्या न पैदा कर दें। आज भी गांवों में बहुत-से बच्चे विशेषकर लड़कियां विद्यालय नहीं जा पा रही हैं। प्रौढ़ शिक्षा से ज्यादा जरूरी इन बच्चों की बाल शिक्षा पर ध्यान देना जरूरी है। इस क्षेत्र में स्वयं सेवी संगठन सराहनीय भूमिका अदा कर सकते हैं। सरकार को इस दिशा में तीव्र प्रयास करना चाहिए अन्यथा प्रौढ़ शिक्षा की समस्या कभी भी समाप्त नहीं हो सकती।

ग्रामीण युवकों को देश की मुख्य धारा से जोड़ने के लिए यह आवश्यक है कि भविष्य में खोले जाने वाले मेडिकल व इंजीनियरिंग कालेज तथा उच्च शिक्षा के विश्वविद्यालय ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिकता के आधार पर खोले जाएं।

ग्राम व पो. नगवा
जनपद-बलिया, पिन-277401

गीता, ज्ञान का सागर

गीता योग का विज्ञान है, मनोविज्ञान का परम शास्त्र है, निष्ठा की संहिता है, अध्यात्म का सार है, कर्तव्य-कर्म की प्रेरणा है, त्याग का संदेश है, कर्मयोग का महामंत्र है, भक्ति का बीज है, पलायन के विरुद्ध विद्रोह है, जीवन की समस्याओं का समाधान है, ज्ञान का सागर है।

गीता के ज्ञान, योग, दर्शन, धर्मतत्व, विज्ञान, मनोविज्ञान को समझने के लिए शंकर, रामानुज, मध्व, निंबार्क, वल्लभ, तिलक, गांधी, अरविंद, राधाकृष्णन, विनोबा भावे आदि ने गीता के विस्तृत भाष्य लिखे और उनमें गीता के सिद्धांतों की महत्ता का प्रतिपादन किया। विश्व के अनेक विद्वानों ने भी मुक्त कंठ से इसकी प्रशंसा की।

इस प्रयास में ओशो ने एक कड़ी और जोड़ी है। अपने 16 महत्वपूर्ण प्रवचनों के द्वारा उन्होंने गीता की व्यावहारिक समीक्षा करते हुए विज्ञान और मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि में गीता के संदेश को व्याख्यायित किया है।

एक स्थल पर उन्होंने कहा है—"गीता मनुष्य जाति का पहला मनोविज्ञान है, वह पहली 'साइकोलाजी' है।" इसलिए उसके मूल्य की बात ही और है। अगर मेरा वश चले तो कृष्ण को मनोविज्ञान का पिता मैं कहना चाहूंगा। वे पहले व्यक्ति हैं जो दुविधा ग्रस्त चित्त, संताप ग्रस्त मन, खंड-खंड टूटे हुए संकल्प को अखंड और 'इण्टिग्रेट' करने की कोशिश करते हैं।

गीता का यह सार्थक चिंतन चार भागों में प्रकाशित हुआ है—

"गीता: मनोविज्ञान का परम शास्त्र",
"गीता: कृष्ण का योग-विज्ञान",
"गीता: विज्ञान, कला, अध्यात्म",
"गीता: समस्त योगों का सार।"

सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रकाशित ये चारों पुस्तकें गीता-दर्शन को समझने और मनन करने में विशेष रूप से सहयोगी सिद्ध होंगी।

प्रकाशक: डायमंड पाकेट बुक्स, 2715, दरिया गंज, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष: 1990, पृष्ठ सं. 123, 115, 125, 114, मूल्य: प्रत्येक खण्ड 10 रुपये।

समीक्षा : डा. गिरिराजशरण अग्रवाल

आम धारणा

गाँव में रहने वाला औसत व्यक्ति अपने अस्तित्व के लिये
मौसम और कर्ज़ देने वालों पर निर्भर करता है।

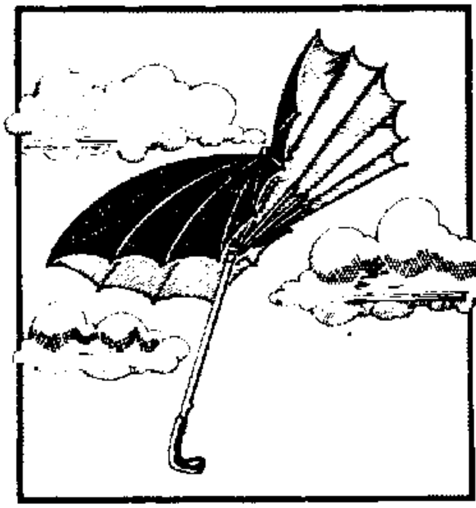

वास्तविकता

समय बदल चुका है। गाँवों का दृश्य भी बदल चुका है।
और अब ग्रामीण व्यक्ति अपना भाग्य स्वयं निर्धारित करता है।
क्योंकि आज राज्य सरकारों की पहल पर एन सी डी सी द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त
किसान सहकारी समितियों ने जगह-जगह पर उर्वरक संयंत्र, चीनी मिलें, तिलहन विधायन
इकाइयाँ, कताई मिलें – यहाँ तक कि कुक्कुट एवं मत्स्य उद्योग भी स्थापित किये हैं।
और इनसे ग्रामीणों को रोज़गार के साथ-साथ विकास के कई अवसर प्राप्त हुए हैं।

सहकारी गतिविधियों की योजना बनाने, प्रोत्साहन, मार्गदर्शन एवं उन्हें सहयोग देने से लेकर
संयंत्रों की स्थापना, उत्पाद के विपणन एवं वितरण तक एन सी डी सी ग्राम्य जीवन के हर क्षेत्र में
शामिल है। और क्यों न हो ? अच्छा मौसम
तो ग्राम्य जीवन में हमेशा ही
महत्वपूर्ण रहा है।

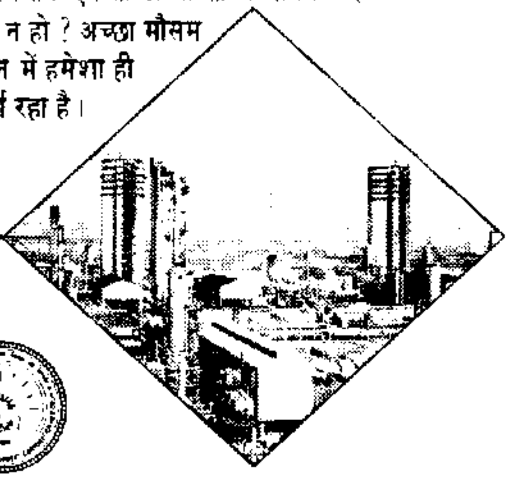

नेशनल को-ऑपरेटिव डेवलपमेंट कॉर्पोरेशन
4, सिरी इंस्टीट्यूशनल एरिया, हौज खास, नई दिल्ली-110016

एन सी डी सी – एक सहकारिता कथा

F.N/XIII-933 H.C

शिक्षा नीति का सिंहावलोकन

सुबह सिंह यादव

मानव इतिहास के उषाकाल से ही शिक्षा ने अपनी पहुंच का अभ्युदय, विविधीकरण तथा प्रसार जारी रखा है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी अद्वितीय सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान को व्यक्त करने एवं संवृद्धित करने तथा समय की चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए शिक्षा की एक प्रणाली का विकास करता है। इतिहास में कई बार ऐसे क्षण भी आते हैं जब वर्षों पुरानी प्रक्रिया को एक नवीन दिशा देनी होती है। भारत में ऐसे क्षण समय-समय पर महसूस होते रहे हैं। आज देश अपने आर्थिक एवं तकनीकी विकास की ऐसी अवस्था में पहुंच गया है जब पहले से ही सृजित परिसम्पत्तियों से अधिकतम लाभ व्युत्पन्न करने के प्रयास होने चाहिए तथा यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि विकास के लाभ सभी वर्गों तक पहुंचे। शिक्षा इस उद्देश्य की प्राप्ति का एक उच्च मार्ग है।

आज से एक शताब्दी पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि भारत की औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था 'पूर्णतया नकारात्मक शिक्षा है' तथा यह 'मानव बनाने वाली शिक्षा नहीं है'। उनका कहना था कि हमें जीवन निर्माण, मानव निर्माण, चरित्र निर्माण व विचारों के एकत्रीकरण वाली शिक्षा चाहिए न कि सूचना की मात्रा। चन्दन की लकड़ियों का बोझ ले जाता गधा केवल वजन को ही महसूस कर सकता है न कि चन्दन की कीमत को। हमें जहां तक व्यावहारिक हो, राष्ट्रीय पद्धति के माध्यम से राष्ट्रीय रूपरेखा के अनुरूप सम्पूर्ण शिक्षा चाहिए। स्वामी विवेकानन्द के इस संदेश के सौ वर्षों बाद और स्वतंत्रता के 43 वर्षों के बाद भी हमारे यहां शिक्षा का औपनिवेशिक मॉडल कायम है, यद्यपि राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में सराहनीय प्रयासों का आह्वान किया गया। ठीक इसी परिप्रेक्ष्य में शिक्षा प्रणाली ने विशिष्ट वर्ग के विपथगमन का परिशोधन, क्रांतिकारी परिवर्तन लाने तथा यथार्थवादी समतावाद की स्थापना हेतु शिक्षा नीति के सिंहावलोकन की आवश्यकता को महसूस किया गया।

भारत में 1968 की शिक्षा नीति अपनाने के बाद से ही सम्पूर्ण देश में सभी स्तरों पर शिक्षा सुविधाओं का तीव्र विस्तार हुआ है। हमारी संवैधानिक प्रतिबद्धता के अनुरूप ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापक स्कूल सुविधाएं, दूसरे अन्य स्तरों पर अन्य सम्बद्ध सुविधाओं का प्रबंध, पूरे देश में समरूप शिक्षा ढांचा, अधिकांश राज्यों में 10+2+3 पद्धति, स्नातक स्तर पर पाठ्यक्रमों की पुनर्संरचना, स्नातकोत्तर शिक्षा व अनुसंधान हेतु उच्च संस्थानों की स्थापना आदि उपलब्धियां प्राप्त की गईं। लेकिन इन सब उपलब्धियों के बावजूद 1968 की शिक्षा नीति में समाविष्ट सामान्य धाराणाओं को क्रियान्वयन की विस्तृत रणनीति में परिणित नहीं किया जा सका। फलस्वरूप स्कूलों तक सामान्य पहुंच, गुणवत्ता, मात्रा, उपयोगिता तथा वित्तीय उद्व्यय से सम्बद्ध समस्याओं ने जिस तरह का स्वरूप धारण किया, उसको अत्यावश्यक रूप से सुलझाना आवश्यक है। शैक्षिक मोर्चे पर उल्लेखनीय प्रगति के बावजूद भी हमारी साक्षरता प्रतिशत 1951 के 16.67 प्रतिशत से बढ़कर 1981 में 36.2 प्रतिशत हो पाया, यद्यपि यह प्रतिशतता स्त्रियों के लिए 25 प्रतिशत, अनुसूचित जातियों के लिए 21.4 प्रतिशत तथा अनुसूचित जातियों के लिए 16.4 प्रतिशत ही रहा।

1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति जो क्रियान्वयन के एक कार्यक्रम के रूप में निर्मित हुई, समरूप शिक्षा संरचना (10+2+4), शिक्षा प्राप्ति हेतु सभी को समान अधिकार तथा समरूप मूल पाठ्यक्रम पर आधारित थी। यद्यपि 1986 की शिक्षा नीति में शिक्षा के सार्वभौमिकता को प्राथमिकता देने व 14 वर्ष तक की आयु के बच्चों को स्कूल में रखने को प्राथमिकता दी गई थी। लेकिन कक्षा 1 से 8 के बीच स्कूल छोड़ने वाले बच्चों की अधिक दर को रोकने के लिए कोई प्रभावशाली उपाय नहीं सुझाए गए। आरंभिक शिक्षा के तीव्र विस्तार के साथ-साथ न्यूनतम सुविधाओं को सुनिश्चित न करने का परिणाम शैक्षिक स्तर में तीव्र गिरावट के रूप में सामने आया। आरंभिक शिक्षा का हमारा मॉडल शहरी झुकाव लिए है तथा अवस्थिति, समय, क्रमशः पदोन्नति आदि के रूप मे कठोर है। लगभग 45 प्रतिशत स्कूलों में केवल एक ही अध्यापक है और वह भी किसी न किसी बहाने बार-बार स्कूल से बाहर ही रहता है। इन कमियों को दूर करने हेतु राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में 'आपरेशन ब्लैक बोर्ड' का अभियान आरंभ किया, लेकिन आयोजन पर्याप्त कोष उपलब्ध नहीं कर पाये। यही कारण है कि ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकांश स्कूल बिना किसी उपयुक्त भवन के चलाए जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त (अ) 'लेफ्ट आउट' जो लड़के कभी स्कूल में आते ही नहीं, (ब) 'ड्रॉप आउट' (जो छात्र बीच में ही स्कूल छोड़ देते हैं) तथा 'पुस आउट' (कुछ वातावरणीय कारणों से एवं सुविधाओं के अभाव

में ग्रामीण छात्रों की उपलब्धियां कम होने तथा कुछ प्रमापों को अपनाकर विद्यार्थियों को फेल करके व्यवस्था से बाहर धकेल दिया जाता है) की समस्याओं से, विकाराल रूप धारण किया है। यहां तक कि बच्चों को स्कूल भेजने पर अभिभावकों की तथाकथित छोटी आमदनी में होने वाले नुकसान की क्षतिपूर्ति हेतु सरकार द्वारा बच्चों को मुफ्त वर्दी, पाठ्य पुस्तक तथा स्टेशनरी एवं दोपहर का भोजन या छात्रवृत्ति देने की योजना (जिससे नियमित उपस्थित रहे) के प्रयासों के भी वांछित परिणाम नहीं मिले। एक उपचारात्मक उपाय के रूप में गैर-औपचारिक शिक्षा भी एक अधूरा प्रयास सिद्ध हुआ। इसकी पद्धति तथा कार्यभार (जिसमें दो वर्ष के पाठ्यक्रम को संक्षिप्त करके एक वर्ष में ही पूरा किया जाता जाता है) ने इस व्यवस्था के प्रति गंभीर समस्या पैदा कर दी है।

इस पृष्ठभूमि में आचार्य राममूर्ति समिति की नियुक्ति, 1990 के अन्त तक निरक्षरता का उन्मूलन करने हेतु शिक्षा नीति में आमूलचूल परिवर्तन करने तथा शिक्षा को जनसमूह हेतु एक साधन बनाने और काम के अधिकार के अवसर को प्राप्त करने के योग्य करने का एक माध्यम है। 1986 की शिक्षा नीति की समीक्षा हेतु गठित समिति का संदर्भ इस प्रकार है :

- राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 तथा इसके क्रियान्वयन की समीक्षा,
- इस नीति के संशोधन हेतु सिफारिशें करना तथा
- एक समय प्रारूप में संशोधित नीति के क्रियान्वयन हेतु संस्तुति करना।

समिति द्वारा बनाई गई कुछ ऐसी रूपकात्मकताएं जिनका ग्रामीण क्षेत्र के कल्याण एवं उत्थान पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, को निम्नांकित संक्षिप्त रूप में उल्लेखित किया जा सकता है :

स्कूल व्यवस्था को खोलना तथा गैर-औपचारिक बनाना

समिति ने ग्रामीण क्षेत्र पर विशिष्ट प्रतिबल दिया है। ग्रामीण क्षेत्रों में आधारित संरचना तथा सामाजिक सेवाओं के अभाव के कारण प्रशिक्षित तथा शिक्षित युवाओं से लाभान्वित नहीं हो पाते, इसलिए ग्रामीण बुद्धिमता का पोषण एक दूर का स्वप्न रह जाता है। अतः ग्रामीण अंचल को उत्पादक बनाने, वहां की जीवन शैली को बदलने, प्रति व्यक्ति आय त्वरित करने व रोजगार सृजन करने की तीव्र आवश्यकता है। राममूर्ति समिति इन उद्देश्यों को हासिल करने में स्कूल को प्रमुख साधन मानती है। समिति का मत है कि इन स्कूलों को न केवल नियमित रूप से स्कूल आने वाले बच्चों के लिए, बल्कि उनके लिए भी जो स्कूल से बाहर रह जाते हैं, कार्य करना चाहिए। स्कूलों के लिए वित्तीय साधनों का प्रावधान पर्याप्त रूप से बढ़ाया जाना चाहिए।

सामूहिक स्कूल प्रणाली

सामूहिक स्कूल व्यवस्था एक ऐसी अनूठी व्यवस्था है जिसे राममूर्ति समिति ने ग्रामीण शिक्षा के आधार को मजबूत करने हेतु दृष्टिगत रखा है। यदि हम विद्यालयों को समूहों में गठित करने के इस उद्देश्य में सफल हो जाते हैं तो अध्यापकों व संसाधनों का विनिमय भी संभव हो जाएगा। इससे लागत में भी कमी होगी ही, साथ ही विद्यार्थियों में रुचि भी बढ़ेगी। प्रायः यह कहा जाता है कि दिन-प्रतिदिन एक ही शिक्षक को सुनते-सुनते विद्यार्थियों में अरुचि उत्पन्न हो जाती है। आस-पास के स्कूलों में अध्ययन सामग्री के विनिमय से मुद्रण, प्रेषण आदि पर होने वाला व्यय कम हो जाता है। अतः बच्चों को लाभान्वित करने के लिए स्कूल में उपलब्ध सामग्री सभी संसाधनों के संभाव्य के विदोहन के प्रयास किए जाने चाहिए ताकि सुविधाओं के दोहरेपन में आने वाले व्यर्थ के व्यय को रोका जा सके।

लोगों को कार्याधिकार योग्य बनाना

लोगों को कार्य योग्य बनाने का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक कार्य करना होगा। शिक्षा की सम्पूर्ण प्रक्रिया में सामाजिक रूप से उपयोगी कार्य तथा उत्पादक श्रम के प्रति सम्मान की संस्कृति को विकसित करना है जिससे ने केवल अधिक प्रासंगिक ज्ञान के आधार के विकास को बल्कि ऐसी सृजनात्मकता बुद्धिमता को भी सुविधाजनक बनाना है जिसके आधार पर व्यक्ति जीवन पर्यन्त अपने आपको अग्रसर करता रहे। इसी तरीके से लोगों को कार्य के प्रति योग्य एवं प्रेरित किया जा सकता है। ठीक इसी बिन्दु पर विद्यार्थियों को सृजनात्मक कार्य की क्षमता से सुसज्जित करने में शिक्षा की निर्णायक भूमिका का महत्व दिखाई देता है। आठवीं पंचवर्षीय योजना के दृष्टिकोण पत्र का मूल बिन्दु भी 'विद्यालय की दुनिया' तथा 'काम की दुनिया' के मध्य प्रभावशाली कड़ियां स्थापित करके कार्य के अवसर उत्पन्न करने के इर्द-गिर्द केन्द्रित है।

इस परिप्रेक्ष्य में शिक्षा के व्यवसायीकरण के स्वरूप को निम्न ताने-बाने में बुनना होगा :

कार्य अनुभव/सामाजिक रूप से उपयोगी उत्पादक कार्य को आरम्भिक स्तर पर स्कूल पाठ्यक्रम में एक अंतरंग भाग के रूप में विभिन्न विषयों से सम्बद्ध करके लागू करना। दूसरे शब्दों में प्रभावशाली आवश्यकता आधारित पाठ्यक्रम को निर्मित करना होगा। माध्यमिक शिक्षा स्तर तक सभी विद्यार्थी ऐसा मूलभूत पाठ्यक्रम अपना सकते हैं जिसमें एक महत्वपूर्ण व्यवसायिक संभाग सन्निहित हो।

माध्यमिक स्तर पर प्रत्यक्षतः नौकरी दिलाने वाले व्यावसायिक पाठ्क्रम अपनाने वाले विद्यार्थियों के लिए इसी

क्षेत्र 'ब्रिज कोर्स' के द्वारा आगे की शिक्षा के प्रावधान किए जाने चाहिए। ग्रामीण हेतु व्यवसायिक पाठ्यक्रमों का पुनर्गठन करके इसमें सामाजिक कल्याण एजेंसियों को शामिल करना होगा।

पाठ्यक्रम विकास कौशल प्रशिक्षण का प्रयोगकर्ता संस्थाओं/अभिकरणों की आवश्यकताओं से तालमेल बैठाया जाना चाहिए। इन प्रयोगकर्ता संस्थाओं को पाठ्यक्रम बनाने, पढ़ाने तथा प्रशिक्षण जैसे कार्यों में सक्रिय सहयोग लेना चाहिए।

व्यवसायिक पाठ्यक्रमों की रचना इस प्रकार की हो जिससे तीव्र गति से बदलती हुई तकनीक की मांग की पूर्ति करने तथा क्षैतिज एवं उदग्र गतिशीलता को इष्टतम बनाने हेतु हस्तांतरणीय कौशल को प्रोन्नत किया जा सके।

माध्यमिक शिक्षा को शैक्षिक एवं व्यवसायिक धाराओं में विभाजित न किया जाए, बल्कि इसमें पर्याप्त संरचनात्मक परिवर्तन किया जाए।

विद्यालयों की वृद्धिशील उपलब्धता, विशेषकर कम दूरी पर उच्च प्राथमिक विद्यालय खोले जाएं।

जहां आवश्यकता हो, वहां छात्रावास खोले जाने चाहिए।

महिला अध्यापकों का अनुपात उल्लेखनीय रूप से बढ़ाया जाना चाहिए।

छात्रवृति, मुफ्त पाठ्य पुस्तकों, वर्दी आदि प्रेरणात्मक उपाय अपनाए जाएं।

कुल संसाधनों का 50 प्रतिशत भाग प्राथमिक शिक्षा के लिए रखा जाना चाहिए।

शैक्षिक प्रसार में माध्यों का प्रयोग महत्वपूर्ण है। इन माध्यों को प्रतिकूल प्रभावों वाली प्रवृतियों से मुक्त रखा जाए।

वास्तव में ये सिफारिशें महत्वपूर्ण हैं। इससे ग्रामीण क्षेत्र में आर्थिक खपत के आधार पर पाठ्यक्रमों का निर्धारण सार्थक बन जाता है जिससे शहरीकरण की ज्योमिती रूप से बढ़ती हुई समस्याओं से मुक्ति तो मिलती है, साथ ही समस्या निवारण क्षमता का स्पर्श होने के कारण ग्रामीण व्यक्ति सच्चे अर्थों में शिक्षित भी हो जाता है। इसलिए हम बार-बार इस बात पर बल देते हैं कि पाठ्यक्रम ग्रामीण जीवन पर आधारित हो तथा यह चारों तरफ समाज के प्रासांगिक भी हो।

परीक्षा संबंधी सुधार

भारत में आने वाले दशक में बहुत कुछ परिवर्तनों को देखते हुए परीक्षा प्रणाली की नए वातावरण के अनुकूल रचना करनी होगी। इस परीक्षा पद्धति की नवीनता के मुख्य अवयवों को 6 भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

(अ) माड्यूलर तथा सेमेस्टर प्रणाली।

(आ) जिसके अन्तर्गत एक विशिष्ट स्तर पर पाठ्यक्रम अध्याय के छोटे-छोटे भागों में विभाजित किया जाना चाहिए और विद्यार्थी को यह छूट दी जानी चाहिए कि वह अपनी पसंद के मोड्यूल को चुने।

(ब) मोड्यूल पर आधारित अंकों का संचयीकरण तथा इन अंकों को एक स्कूल से दूसरे स्कूल में स्थानान्तरित करना।

(स) मौखिक तथा लिखित परीक्षा का बोधोन्मुख तथा अनवरत आंतरिक मूल्यांकन।

(द) निर्धारित पाठ्यक्रम को अध्ययन सूची से प्रतिस्थापित करना।

(य) मूल सिद्धांत यह है कि जो भी अध्यापक पढ़ाएगा, वही पाठ्यक्रम निर्धारित करेगा तथा मूल्यांकन करेगा। पहले की व्यवस्था में जो पढ़ाता है वह जांच करता है। यहां पर मूल्यांकन आंतरिक का अर्थ आंतरिक मूल्यांकन तथा जांच का अर्थ बाहरी परीक्षक द्वारा जांच है।

भाषा

भाषाओं के संदर्भ में समिति किसी खास परिवर्तन को इंगित नहीं कर पाई। यह केवल मातृभाषा तथा क्षेत्रीय भाषाओं पर ही बल देती है और साथ ही लिंक भाषा (अंग्रेजी) की ओर इशारा करती है।

महिला की समानता हेतु शिक्षा

समिति अभी तक उपेक्षित रहे लोगों की विशिष्ट आवश्यकताओं की ओर ध्यान देकर शैक्षिक अवसरों की समानता की वकालत करती है। इसका स्पष्ट अर्थ महिलाओं के पक्ष में शिक्षा को बढ़ाना है। राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली को नए मूल्यों पर ध्यान देकर महिलाओं के उत्थान में अहम भूमिका अदा करनी है। यह विश्वास एवं सामाजिक इंजीनियरिंग का कार्य होगा। इस सबके पीछे मुख्य विचार महिलाओं में निरक्षरता हटाना तथा उन बाधाओं को दूर करना है जिनके कारण शिक्षा प्राप्ति सुलभ नहीं हो पाती। व्यवसायीकरण पाठ्यक्रमों में भी लिंग भेद समाप्त करने हेतु गैर-विभेदीकरण नीति अपनाई जाएगी ताकि विद्यमान व्यवसायों के अलावा गैर-परम्परागत व्यवसायों में भी स्त्रियों की सहभागिता बढ़े। एक सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में हमारा आदर्श है 'बालिकाओं को निरुत्साहित न करें'।

शिक्षा और सामाजिक विकास

राजीव पंछी

1968 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में यह परिकल्पना की गई थी कि हर पांच वर्ष बाद प्रगति की समीक्षा की जाएगी और नई नीतियां तथा कार्यक्रम बनाए जाएंगे। इस परिकल्पना के अनुसार प्रत्येक नई पंचवर्षीय योजना तैयार करते समय शिक्षा की कमियों और उपलब्धियों का पता लगाने तथा आगे आने वाले 5 वर्षों के लिए कार्यक्रमों का निर्णय करने के लिए इसकी समीक्षा की जा रही है। हालांकि इन समीक्षाओं से लाभदायक, प्रयोजन सिद्ध हुआ है किन्तु अब यह महसूस किया जा रहा है कि वर्तमान ढांचे की केवल समीक्षा करना और उसमें थोड़ा बहुत संशोधन करना ही काफी नहीं होगा। देश 21वीं शताब्दी के द्वार पर खड़ा है। जो बच्चे अब पैदा हो रहे हैं वे अपनी प्रारंभिक स्कूली शिक्षा इस शताब्दी के अन्त तक पूरी कर लेंगे और एक ऐसी दुनिया में प्रवेश करेंगे जिसमें, यह पहले से ही स्पष्ट मानव के इतिहास में उन लोगों को अभूतपूर्व अवसर प्राप्त होंगे जो भविष्य की चुनौतियों का सामना करने तथा परिवर्तन की गति को तेज करने में समर्थ होंगे।

मानव के इतिहास में शिक्षा मानव समाज के विकास के लिए एक सतत् क्रिया और आधार रही है। मनोवृत्तियों, मूल्यों तथा ज्ञान और कौशल दोनों की ही क्षमताओं के विकास के माध्यम से शिक्षा लोगों की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप बनने के लिए उन्हें शक्ति और लचीलापन प्रदान करती है, सामाजिक विकास के लिए प्रेरित करती है तथा उसमें योगदान देने के योग्य बनाती है। निःसंदेह इतिहास से ज्ञात होता है कि राष्ट्रों के विकास में मानव संसाधनों द्वारा अदा की गई भूमिकाएं महत्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं। वस्तुतः मानव संसाधनों का विकास करना शिक्षा का मुख्य कार्य है।

किसी भी देश में सामाजिक विकास के लक्ष्यों से वहां के लोगों की आकांक्षाओं की जानकारी मिलती है। भारत में ये लक्ष्य संविधान में दिए गए हैं जिसमें ऐसे समाज की परिकल्पना की गई है जो 'सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, प्रतिष्ठा और अवसर की समता' पर आधारित है और राज्य को यह जिम्मेदारी सौंपी गई है कि वह सभी नागरिकों में 'व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता तथा अखंडता' सुनिश्चित करने वाली भाईचारे की भावना को बढ़ाने के लिए प्रयास करें। संविधान में समाजवाद, धर्म-निरपेक्षता और लोकतंत्र के लिए देश की प्रतिबद्धता को भी रेखांकित किया गया है।

वैयक्तिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास के विविध किन्तु एक-दूसरे पर निर्भर लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उन लोगों के वास्ते शिक्षा के एकीकृत कार्यक्रमों की समुचित व्यवस्था करना आवश्यक है, जो वैयक्तिक और आर्थिक विकास के विभिन्न स्तरों पर रह रहे हैं और जिनमें विभिन्न भाषाई, सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताएं हैं। विविधता में एकता को सुदृढ़ बनाए रखने तथा देश के एक भाग से दूसरे भाग में आने-जाने को सुगम बनाने के लिए ऐसे कार्यक्रमों में एक सामान्य पाठ्यचर्या रखनी होगी।

विश्वविद्यालयीय शिक्षा पद्धति, जो बड़े पैमाने पर सक्षम व्यावसायिक जन-शक्ति प्रदान करती है, उत्पादकता को बढ़ाने तथा आर्थिक उत्पादन में वृद्धि करने में भी बहुत सहायक है। उच्चतर शिक्षा की एक दूसरी पद्धति भी है जिसमें उतनी ही संख्या में छात्र उत्तीर्ण होते हैं, लेकिन इनमें से अधिकांश कला के उदासीन शिक्षित स्नातक होते हैं, जिनमें से अधिकतर या तो बेरोजगार रह जाते हैं अथवा रोजगार के योग्य होते ही नहीं और यही लोग सामाजिक तनाव पैदा कर सकते हैं तथा आर्थिक विकास में बाधा डाल सकते हैं। उपयुक्त पैमाने पर उपलब्ध कराई गई उचित शिक्षा नीति ही ऐसा साधन है जो राष्ट्रीय विकास में सहायक हो सकती है।

यहां इस तथ्य को कहने से कोई लाभ न होगा कि भारत में स्कूल, कालेज तथा विश्वविद्यालय की शिक्षा में अपने अत्युत्तम तरीकों से विद्वान, इंजीनियर, तकनीशियन, डाक्टर तथा उच्च कोटि के प्रबंध कार्मिकों को तैयार किया है जिनकी तुलना विश्व के श्रेष्ठतम विश्वविद्यालयों से तैयार हुए अच्छे विद्वानों से की जा सकती है किन्तु यह भी सच है कि इस कोटि के थोड़े-से लोगों की तुलना में काफी संख्या में उच्च शिक्षा की संस्थाओं से ऐसे लोग निकलते हैं जिनके पास थोड़ा-बहुत पुस्तकीय ज्ञान और एक डिग्री होती है लेकिन उनमें स्वतः अध्ययन की बहुत कम क्षमता, कमजोर भाषा तथा सीमित संप्रेषण क्षमता और सीमित विश्व दृष्टिकोण होता है तथा उनमें किसी प्रकार की सामाजिक अथवा राष्ट्रीय जिम्मेदारी की प्रवृत्ति का भी अभाव रहता है।

देश में यह भावना घर करती जा रही है कि स्कूल, कालेज तथा विश्वविद्यालयों से निकलने वाले हाथ के कामों तथा व्यावसायिक रोजगार को क्लर्की के काम की अपेक्षा अधिक

घटिया मानते हैं। आधुनिक प्रौद्योगिकी प्रवेश करने वाले किसी भी समाज में यह सामन्ती प्रवृत्ति बहुत बड़ी बाधा हो सकती है। विकसित देश ऐसे अवरोधक भावों से बहुत दूर चले गए हैं तथा भारतीयों को भी ऐसी पुरानी धारणाओं से दूर रहना चाहिए। इसे केवल यह सुनिश्चित करने पर ही प्राप्त किया जा सकता है कि कोई भी अपने हाथों से उपयोगी कार्यों के लिए बिना तथा श्रम के महत्व को आत्मसात किए बिना अपना स्कूली जीवन पूरा नहीं कर सकेगा।

शायद आज की समस्याएं मुख्यतः संसाधनों के आबंटन में उत्तरोत्तर गिरावट तथा उन्हें लापरवाही और धीमी गति के साथ कार्यान्वित करने के कारण पैदा हुई है। नई शिक्षा नीति के अन्तर्गत शैक्षिक अनिवार्यताओं को न केवल लक्ष्यों, अवधारणाओं और प्राथमिकताओं के संदर्भ में स्पष्ट किया जाए अपितु इस नीति में पहले से निर्धारित दीर्घकालीन और अल्पकालीन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समुचित कार्य प्रणाली को भी स्पष्ट किया जाए और उसी के साथ आवश्यक वित्तीय सामग्री परक, संगठनात्मक तथा मानव आवश्यकताओं पर भी विचार किया जाए।

समुदाय केन्द्रित शैक्षिक पद्धति के लिए विकेन्द्रीकरण आवश्यक होगा और समुदाय को अधिकार भी देना होगा। स्थानीय शैक्षिक प्रशासन को स्व-सहायक क्रिया को बढ़ावा देना होगा। यह सरकार का कर्त्तव्य है कि वह एक ऐसे संगठन का निर्माण करे जिसमें कि सामुदायिक साधनों का प्रयोग किया जा सकें और किसी विशेष समुदाय की असमर्थता की स्थिति में उसके लिए आवश्यक सेवाएं और सुविधाएं जुटा सकें। इसके अतिरिक्त समुदाय के हौसले को बनाए रखने के लिए पर्याप्त मात्रा में शिक्षक, पुस्तकें और सामग्री देनी होगी। यह सब इसलिए आवश्यक होगा कि शैक्षिक विकास समुदाय और सरकार का सच्चा संयुक्त प्रयास बन सके।

शिक्षा के लिए स्थानीय सहायता का समुदाय के मनोवैज्ञानिक यत्नों पर भारी प्रभाव पड़ता है। इससे स्थानीय आवश्यकताओं और सरकारी प्रतिक्रियाओं के बीच संबंधों का एक परिवर्तित रूप उभर कर आता है। यदि कोई समुदाय अपने बच्चों की शिक्षा में सहयोग देता है तो उससे उसकी आत्मनिर्भरता प्रदर्शित होती है, इससे वह अपनी आवश्यकताओं को समझता है, और अपनी समस्याओं के समाधान के लिए बाहरी माध्यम की ओर नहीं देखता। इसका समुदाय के लोगों पर बहुत ही महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। उन्हें आत्मसंतोष मिलता है और उनका आत्म-सम्मान बढ़ता है। उनका गौरव बढ़ता है क्योंकि उन्हें अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अन्दर ही शक्ति मिल गई है। यदि एक क्षेत्र में उन्हें सफलता मिलती है तो दूसरे क्षेत्रों में भी सफलता पा सकते हैं। इस तरह से समुदाय में परिवर्तन आ जाता है जो वास्तविक सामुदायिक विकास होता है।

बच्चों में जानने का कौतूहल होता है। वे पर्यावरण के अविष्कार के लिए उत्सुक रहते हैं। नए खिलौने को हाथों में लेना और उससे खेलना भी उसके अन्वेषण और प्रयोग का प्रदर्शन ही है। शिक्षक की जिज्ञासा की प्रवृत्ति के विकास को, जो बढ़ते बच्चे के जीवन की गतिविधियों में इतनी महत्वपूर्ण है, आधार मानकर ही आगे के कार्यों का भवन खड़ा करना चाहिए।

शिक्षा के लिए समन्वित रणनीति की रूपरेखा का निर्धारण राष्ट्रीय प्राथमिकताओं, संसाधनगत सीमाओं और विभिन्न कार्यक्रमों की परस्पर निर्भरता प्रर आधारित होना चाहिए। यदि हम इस दृष्टिकोण से देखें तो विकास संगठन श्रेष्ठता तथा समानता के राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह अनिवार्य है कि देश का हर बच्चा शैक्षिक उपलब्धि की न्यूनतम रेखा पार कर ले। आज की दुनिया की चुनौतियों का सामना करने के लिए व्यक्तित्व का विकास कर अपने परिवेश की सीमाओं और संभावनाओं को समझने, मूल्य व्यवस्था को स्वीकारने, सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति जागरूकता पैदा करने और जीवन से जूझने के लिए विशिष्ट योग्यताओं को पाने के लिए न्यूनतम स्तर तक शिक्षा का होना अत्यंत आवश्यक है। अगामी वर्षों में जीवित रहने के लिए भी शिक्षा के इस स्तर का प्रसार आवश्यक है। इसलिए राष्ट्रीय नीति का एक अनिवार्य भाग यह होना चाहिए कि प्रारम्भिक शिक्षा को सार्वभौमिक बना दिया जाए। यह उद्देश्य इसलिए भी आवश्यक है कि जब प्रारम्भिक शिक्षा का सार्वभौमिकरण हो जाएगा तब पढ़ाई छोड़ देने वाले बच्चों के लिए चिंता की जा सकेगी।

भारत को अपना स्थान बनाए रखने के लिए उत्पादन के कई क्षेत्रों में अत्यंत विकसित देशों के साथ मुकाबला करना होगा। इसलिए इस बात की अत्यंत आवश्यकता है कि सभी स्तरों पर श्रेष्ठ संस्थाएं स्थापित की जाएं और उनका संचालन किया जाए जिससे सर्वश्रेष्ठ गुण संपन्न लोगों को रखा जाए और बहुत ही सावधानी के साथ उनका पोषण किया जाए।

अज्ञान का वातावरण या तो शिक्षा मूल्यों के प्रति है या जनसंख्या नियंत्रण की आवश्यकताओं, स्वास्थ्य और विज्ञान, पर्यावरण तथा परिवेश, शांति और व्यवस्था एवं राष्ट्रीय एकता तथा अस्तित्व की अन्य अनिवार्यताओं के प्रति है। इसलिए प्रौढ़ शिक्षा के एक बृहत कार्यक्रम चलाने की अत्यंत आवश्यकता है जिसको सभी संचार माध्यमों और शिक्षित नागरिकों का समर्थन प्राप्त हो।

मोटे तौर पर इस नई शिक्षा नीति को विकसित करने के लिए शिक्षा की ऐसी दूरगामी कार्यनीति अपनानी होगी जिसमें प्रारंभिक शिक्षा का सार्वभौमिकरण हो, नई प्रौद्योगिक स्थितियों में सृजनात्मक रूप से काम करने योग्य पर्याप्त मात्रा में, संस्कारित जन शक्ति का विकास हो, प्रौढ़ तथा निरंतर शिक्षा के माध्यम से परिवर्तन और विकास के उस समूचे परिवेश का विकास किया जाए जिसको सभी शैक्षणिक वर्गों के गुणों के विकास के साथ जोड़ा जा सके।

53, नीमड़ी कालोनी, नई दिल्ली

यह नया वर्ष मंगलमय हो

बिलास बिहारी

नया वर्ष यह मंगलमय हो।
घटन शेष कर आज युद्ध का मानव के दुर्दिन का क्षय हो
नया वर्ष यह मंगलमय हो।

नई कल्पना के सूरज की
ललकें नयी किरण यह सत्वर
द्वार-द्वार पर बिना भेद के
अलख जगाए निर्तादिन सस्वर

घर-आंगन की मिटे उदासी
हटे देहरी का रज बासी
सबके मन को पावन करती नयी भावना का समुदय हो।
नया वर्ष यह मंगलमय हो।

नयी शक्ति ले नयी उमंगे
जीवन में सबको जागृति हो
सीमा पर लड़ते वीरों की
सबल बाहुओं में चिर गति हो।

कल के सब अभिशाप शेष हों
आज पुण्य के रूख विशेष हों
बढ़े कारवां अब स्वदेश के नव निर्माणों का निर्भय हो।
नया वर्ष यह मंगलमय हो।

2-32, स्टेट बैंक कालोनी नं. 2,
खजपुरा, बेली रोड, पटना-800014

नव वर्ष का अभिनन्दन

राधेश्याम 'आर्य'

कण-कण में आए नवजीवन,
जन-जन में आए अपनापन,
नई चेतना से आह्लादित—
गांव-नगर हो, वन-उपवन।

निर्माणों की दीप-शिखा का—
निष्कलंक हो नव-उत्कर्ष।
अभिनन्दन तेरा नव वर्ष।।

दनुज-वृत्तियों का हो अन्त,
बिखरे मानव-वृत्ति अनन्त,
बसुधा के अञ्चल में आए—
विपुल सुखों का मृदुल बसन्त।

धरती पर छा जाए पावन—
अतुलित-सा नूतनमय हर्ष।
अभिनन्दन तेरा नव वर्ष।।

कर्तव्यों पर सभी सजग हों।
मानव-मानव से न अलग हों,
राष्ट्रप्रेम व मानवता के—
दीप सदा जाग्रत-जगमग हों।

सुखी तथा समृद्धशील हो—
ऋषियों का यह भारतवर्ष।
अभिनन्दन तेरा नव वर्ष।।

रश्मिरथी
मुसाफिरखाना
227813 सुल्तानपुर, (उत्तर प्रदेश)

ग्रामीण निरक्षरता और उपेक्षित प्राथमिक शिक्षा

डा. हुकम चन्द जैन

भारतीय समाज विश्व के सर्वाधिक असमतावादी समाजों में से एक है। धर्म, जाति, क्षेत्र, लिंग और आर्थिक स्थिति के आधार पर स्तरीकृत इस समाज में प्रत्येक दृष्टि से ग्रामीण जीवन निरक्षरता, निर्धनता और जनसंख्या वृद्धि की व्यापकता से ग्रस्त है। ये समस्याएं जहां एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं वहीं दूसरी ओर समग्र रूप से ग्रामीण विकास में बाधक बनी हुई हैं। जिन देशों में साक्षरता की दर तुलनात्मक रूप से अधिक है वहां प्राथमिक स्तर पर बच्चों के नामांकन में वृद्धि, जन्म एवं बाल मृत्यु दर में कमी, बच्चों के टीकाकरण और उनकी देखभाल में सावधानी बढ़ी है। यही नहीं प्रति व्यक्ति आर्थिक सहभाग और राजनैतिक चेतना में भी वृद्धि हुई है। कहने का तात्पर्य यह है कि विकास की समग्र प्रक्रिया और जीवन की गुणवत्ता का प्रत्यक्ष संबंध शिक्षा-साक्षरता से जुड़ा है। इसी तथ्य को गुन्नार मिर्डाल ने व्यक्त करते हुए लिखा है "साक्षरता संचार का मार्ग खोलती है अन्यथा वे बंद पड़े रहते हैं, यह अन्य कौशल की प्राप्ति और अधिक विवेकपूर्ण दृष्टिकोण के विकास के लिए एक पूर्व आवश्यकता है।"

इसी परिप्रेक्ष्य में जब भारतीय संदर्भ में शिक्षा-साक्षरता की बात आती है तो देश के 43 करोड़ निरक्षरों के इस सदी के अंत में 50 करोड़ हो जाने की भयावह स्थिति एक चुनौती बनकर सामने आती है। यह स्थिति अकारण नहीं है। आज से लगभग एक दशक पूर्व 1881 में दादाभाई नौरोजी ने चार वर्ष की अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का सुझाव रखा था। तत्पश्चात, देश की स्वतंत्रता के बाद प्रारंभिक शिक्षा के लोक व्यापीकरण के संवैधानिक आदेश को हम अनसुना करते रहे। अन्ततः राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 में पुनः यह संकल्प दोहराया गया कि सन् 1990 तक 11 वर्ष तक के बच्चों को 5 वर्ष की स्कूली शिक्षा अवश्य दिला दी जाएगी। इसी प्रकार 1995 तक 14 वर्ष की आयु वाले सभी बच्चों के लिए निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान कर दिया जाएगा किन्तु यह सब अभी भी मृगमारीचिका बना हुआ है।

सभी बच्चों की शिक्षा व्यवस्था एक नीतिगत उद्देश्य है। इसलिए शिक्षा की आयोजना के उद्देश्य से इनकी आयुगत संरचना और ग्रामीण नगरी वितरण आदि ऐसे तथ्य हैं जिनका संबंध बुनियादी रूप से न केवल औपचारिक शिक्षा व्यवस्था से है वरन् अनौपचारिक एवं प्रौढ़ शिक्षा से भी है। भारत में जनसंख्या वृद्धि की ऊंची दर के कारण कम आयु वर्ग में जनसंख्या का विस्तार ज्यादा हो रहा है। 1981 की जनगणना के अनुसार देश में 26.3 करोड़ बच्चे 14 वर्ष या इससे कम आयु के थे जो कुल आबादी का 39 प्रतिशत है। इनका ग्रामीण तथा नगरी वितरण क्रमशः 78 एवं 22 प्रतिशत है।

स्कूल जाने वाले आयु वर्ग में कुल 14.42 करोड़ बच्चे हैं जो देश की कुल आबादी का 21 प्रतिशत है जबकि 6-11 आयु वर्ग में 9.7 करोड़ बच्चे तथा इनका प्रतिशत 14.5 है जबकि शेष 4.76 करोड़ बच्चे 11-14 आयु वर्ग में देश में 6-14 आयु वर्ग के स्कूल जाने वाले बच्चों का भाग 48.72 प्रतिशत है जो इस आयुवर्ग में कुल जनसंख्या के आधे से कम हैं।

निरक्षरता के आयाम

ग्रामीण नगरी असमानताओं में सबसे ज्यादा विषय स्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में देखा जा सकता है। वैसे तो सम्पूर्ण देश में 36.23 प्रतिशत साक्षरता को, कोई विशेष संतोषजनक नहीं कहा जा सकता किन्तु ग्रामीण साक्षरता दर 1981 में शहरी साक्षरता दर 57.40 की तुलना में 29.65 प्रतिशत ही थी जो स्वयं व्यापक निरक्षरता को व्यक्त करती है। ग्रामीण क्षेत्र में पुरुषों एवं महिलाओं की साक्षरता क्रमशः 40.79 एवं 17.96 प्रतिशत है। साक्षरता का यह औसत जब शैक्षिक रूप से पिछड़े प्रान्तों की ओर रुख करता है तो पाते हैं कि राजस्थान में 5.46, मध्यप्रदेश में 8.99, उत्तर प्रदेश में 9.49, अरुणाचल में 9.60 ग्रामीण महिला साक्षरता निश्चित ही हमारी उपेक्षित ग्रामीण शिक्षा व्यवस्था को परिलक्षित करती है।

पिछड़े वर्गों में विशेष रूप से अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लोग इस ग्रामीण शैक्षिक पिछड़ेपन को और ज्यादा पैना कर देते हैं। इन्हीं वर्गों की बहुसंख्यक आबादी ग्रामीण है जो अक्षरों और शब्दों के उजाले को अब तक नहीं देख पायी। अनुसूचित जातियों की साक्षरता का लेखा-जोखा निम्न तालिका से स्पष्ट है—

अनुसूचित जातियों में साक्षरता प्रतिशत (1981)

	पुरुष	महिला	कुल
ग्रामीण	27.91	8.44	18.48
नगरी	47.54	24.34	36.60
कुल	31.11	10.93	21.38

देश में लगभग एक चौथाई आबादी वाले अनुसूचित जातियों के समुदाय शिक्षा की दृष्टि से सर्वाधिक उपेक्षित हैं। इस वर्ग में व्याप्त निरक्षरता को देखते हुए यह लगता है कि अभी भी यह वर्ग राष्ट्रीय विकास की मुख्य धारा से अलग-थलग पड़ा हुआ है। इस वर्ग में साक्षरता का प्रतिशत निम्नवत है।

अनुसूचित जनजातियों में साक्षरता प्रतिशत (1981)

	पुरुष	महिला	कुल
ग्रामीण	22.94	6.81	14.92
नगरी	47.60	27.32	37.93
कुल	24.52	8.04	16.35

वर्ष 1981 में जनजातीय समुदायों में साक्षरता की तुलना देश में 1941 में सामान्य साक्षरता से की जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि वे इस अर्थ में अभी भी 40 वर्ष पीछे हैं। इस वर्ग में निरक्षरता उन्मूलन के प्रयास अभी भी सार्थक नहीं कहे जा सकते हैं।

हालांकि प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में परिमाण के रूप में हमारी उपलब्धियां पर्याप्त हैं लेकिन इतनी भी नहीं कि इनका लाभ ग्रामीण क्षेत्रों में दलित वर्गों को पूरी तरह से मिल सकें। आज भी देश में सकल नामांकन 93.4 प्रतिशत तक पहुंच गया है किन्तु क्षेत्रीय विषमताएं भी कम नहीं हैं। असम में इस स्तर पर नामांकन 62.9 प्रतिशत है तो राजस्थान के जालौर जिले में लड़कियों का नामांकन मात्र 17 प्रतिशत है। प्राथमिक स्तर पर ग्रामीण क्षेत्रों में नामांकन विशेष रूप से अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के बीच अत्याधिक कम है। यही कारण है कि ग्रामीण क्षेत्रों में इन वर्गों में निरक्षरता की स्थिति काफी विषम है।

ग्रामीण क्षेत्रों में प्रौढ़ निरक्षरता की स्थिति भी कम दुखद नहीं है। 1981 में प्रौढ़ आयु वर्ग में निरक्षरों की संख्या का ब्यौरा इस प्रकार पाया गया।

भारत में निरक्षर प्रौढ़ (करोड़) (1981)

क्षेत्र	व्यक्ति	पुरुष	महिला
सभी क्षेत्र	11.0	4.1	6.9
ग्रामीण	9.4	3.5	5.9
नगरी	1.6	0.6	1.0

इस तरह देखा जाए तो कुल प्रौढ़ निरक्षरों में 85.5 प्रतिशत प्रौढ़ ग्रामीण हैं जिनमें पुरुषों एवं महिलाओं का प्रतिशत क्रमशः 31.9 एवं 53.6 है।

व्यापक निरक्षरता के कारण

ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक स्तर पर बच्चों के स्कूल न जाने और व्यापक निरक्षरता के अनेक कारण हैं। हाल ही में सम्पन्न 42वां राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण रिपोर्ट (1987) में बच्चों की शिक्षा-समस्याओं को कई कोणों से विश्लेषित किया गया है। बच्चों के स्कूल न जाने के कारणों में विशेष रूप से आर्थिक कठिनाइयां, घरेलू एवं आर्थिक कार्यों में बच्चों का सहयोग, शिक्षा सुविधाओं का अभाव और अन्ततः कुछ बच्चों में पढ़ने-लिखने के प्रति रुचि न होना मुख्य रूप से प्रत्यक्ष बाधाएं हैं।

जहां तक ग्रामीण क्षेत्रों में बच्चों के स्कूल न जाने का सवाल है उसमें मुख्य रूप से निर्धनता और शिक्षा साधनों का अभाव मुख्य है। ग्रामीण क्षेत्रों में कृषकों, कृषि एवं भूमिहीन श्रमिकों के बच्चे प्रायः ग्रामीण श्रम शक्ति में योगदान देते हैं। ऐसा अनुमान है कि देश में लगभग 1.12 करोड़ बच्चे मुख्य श्रमिक और करीब 2.4 करोड़ बच्चे सीमांत श्रमिक हैं जबकि राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण द्वारा 1983 में बाल श्रमशक्ति 1.73 करोड़ आंकी गई थी।

शिक्षा-सुविधाओं का अभाव

ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा के निम्न-स्तर के पीछे मुख्यतः शिक्षा सुविधाओं का अभाव पाया गया। वस्तुतः ग्रामीण-नगरी विषमता तो शिक्षा का एक आयाम है, क्षेत्रीय और प्रांतीय विषमताओं से जुड़ी अन्य अनेक समस्याएं भी हैं। चूंकि शिक्षा अब तक राज्यों का विषय है जो शिक्षा पर कुल व्यय का लगभग 70 प्रतिशत खर्च वहन करते हैं। अतः प्रांतवार शिक्षा पर व्यय राशि में भिन्नता होना स्वाभाविक है जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव शिक्षा सुविधाओं के बंटवारे पर पड़ता है। पी. एन. वी. कम्पेडियम आफ पालिसी स्टेटमेण्ट्स मेड इन पार्लियामेंट, 1985 के अनुसार प्रांतवार शिक्षा पर प्रति व्यक्ति बजट में

काफी अंतर है। यह आंध्र प्रदेश में 99 रु., असम में 84, बिहार में 65, मध्य प्रदेश में 62, उड़ीसा में 65, राजस्थान में 80, उत्तर प्रदेश में 52, पश्चिम बंगाल में 88 रुपये प्रति व्यक्ति दर्शाई गई थी जबकि शैक्षिक रूप से अग्रणी प्रांतों में यह राशि काफी अधिक है।

देश में प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में भौतिक एवं अन्य सुविधाओं की तस्वीर 'शिक्षा की चुनौती' (1985) में दर्शायी गई है। ''यह सही है कि अधिकांश बच्चों के घरों से एक कि.मी. की दूरी पर ही प्राथमिक स्कूल है, किन्तु वियुक्त आंकड़ों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 300 से अधिक व्यक्तियों वाली 1.91 लाख बस्तियों में या सभी बस्तियों के लगभग पांचवें भाग में कोई भी स्कूल नहीं है। जहां स्कूल हैं भी, वहां 40 प्रतिशत स्कूलों की पक्की इमारत नहीं है। 39.72 प्रतिशत स्कूलों में ब्लैक बोर्ड तक नहीं और 59.50 में पीने का पानी भी नहीं मिलता। 35 प्रतिशत स्कूलों में 3 या 4 कक्षाओं को पढ़ाने के लिए केवल एक ही शिक्षक होता है।'' शिक्षा के किसी भी स्तर पर शिक्षा की गुणवत्ता एवं वांछित लक्ष्य प्राप्त करने में न केवल भौतिक सुविधाओं की जरूरत पड़ती है वरन् अध्यापन की समुचित व्यवस्था और सामाजिक वातावरण का निर्माण भी इसके लिए आवश्यक है।

शिक्षा की गुणवत्ता

प्रारंभिक शिक्षा के क्षेत्र में सब बच्चों के नामांकन और उनको स्कूल में बनाये रखने के अतिरिक्त शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार की भी अपेक्षा है। यद्यपि निरक्षरता के अंबार में डूबे ग्रामीणों के लिए शिक्षा की गुणवत्ता की बात विशेष अर्थ नहीं रखती है किन्तु किसी भी स्तर पर शिक्षा में गुणात्मक सुधार को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। प्रथम आठ वर्ष की अवधि में दी जाने वाली शिक्षा का संबंध पूर्णत: बच्चों की शिक्षा से है। इस स्तर पर उनकी आदतें, मनोवृत्तियां और समग्र रूप से उनके व्यक्तित्व का प्रस्फुटन होता है। सामाजिक विश्वास और मूल्यों का आत्मसात के साथ अध्ययन कौशल तथा योग्यता के विकास की नींव इसी अवस्था में मजबूत होती है।

यद्यपि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि भारत में शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति नहीं हुई किन्तु प्रश्न यह है कि इसका लाभ किसे मिला? बहुसंख्यक ग्रामीण दलित आज भी गुणात्मक शिक्षा से वंचित हैं। हमारी राष्ट्रीय शिक्षा नीति अभिजात्य उन्मुख है। शिक्षा की गुणवत्ता और विस्तार के नाम पर जो भी कुछ किया गया वह मूलत: नगरों तक ही सीमित रह गया। सभी विश्वविद्यालय, व्यावसायिक संस्थाएं और प्रशिक्षण केन्द्र नगरी परिवेश में ही फले-फूले गांवों को मिले एक अध्यापक वाले स्कूल जिनके छान-छप्पर तक का अता-पता नहीं है। भारत में लगभग 37 प्रतिशत ग्रामीण प्रारंभिक स्कूल एकल शिक्षक स्कूल हैं जब कभी ऐसे स्कूलों का शिक्षक अनुपस्थित रहता है तब स्कूल बंद रहते हैं। फिर एक अध्यापक कई कक्षाओं के बच्चों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा कैसे दे सकता है जबकि उसे इसका पर्याप्त प्रशिक्षण भी नहीं दिया गया हो।

संसाधनों का असमान वितरण

ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा की वर्तमान दुर्दशा के लिए हमारी राजनैतिक अर्थव्यवस्था भी कम उत्तरदायी नहीं है। अब भले ही राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 में शिक्षा को वर्तमान एवं भविष्य के लिए निवेश के रूप में स्वीकारा गया हो किन्तु विगत दशकों में योजनागत आवंटनों में इस तथ्य पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया गया। निसन्देह पिछले वर्षों में सकल राष्ट्रीय उत्पाद में शिक्षा पर व्यय 1950-51 में 1.2 से 1986-87 में 3.9 प्रतिशत हो गया हो लेकिन वास्तविक जरूरत व्यय के वर्तमान स्तर से कहीं ज्यादा है। शिक्षा पर निवेश की दृष्टि से भारत का विश्व में 115वां स्थान है। योजनागत व्यय में शिक्षा का हिस्सा पहली योजना में 7.86 प्रतिशत से घटकर सातवीं योजना में 3.55 प्रतिशत पर आ गया। प्रारंभिक शिक्षा का हिस्सा पहली योजना में 56 प्रतिशत से घटकर सातवीं योजना में 29 प्रतिशत ही रह पाया। फलत: प्रारंभिक शिक्षा के क्षेत्र में आवंटन के इस गिरते अनुपात का प्रत्यक्ष प्रभाव व्यापक ग्रामीण निरक्षरता के रूप में परिलक्षित हुआ।

इससे भी दुखद तथ्य यह है कि शिक्षा पर व्यय की जानी वाली राशि का क्षेत्रवार व्यय न्याय संगत नहीं रहा। जैसा कि 'शिक्षा की चुनौती' नामक दस्तावेज में स्वीकारा गया है—''1950-51 में ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा की मद पर केवल 38.3 करोड़ रुपये का व्यय हुआ था। इसके मुकाबले शहरी क्षेत्रों में यह राशि 71.6 करोड़ रुपये थी। ग्रामीण शहरी दृष्टि से यह अनुपात 0.53 है। 1970-71 तक ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा पर होने वाली राशि 494.6 करोड़ थी जबकि शहरी क्षेत्र के लिए यह राशि 623.7 करोड़ रुपये थी। इसमें ग्रामीण-शहरी अनुपात 0.79 था।''

भारत में व्यापक निरक्षरता को देखते हुए और स्कूली निरक्षर बालकों के लिए औपचारिकेत्तर शिक्षा की व्यवस्था की गई है किन्तु अंशकालिक आधार पर चल रही यह शिक्षा मात्र औपचारिकता का निर्वाह ही है। विभिन्न पृष्ठभूमि और लब्धि

(शेष पृष्ठ 68 पर)

सबके लिए शिक्षा: बुनियादी परिवर्तनों की जरूरत

डा. हेमचंद जैन

राष्ट्र के सम्पूर्ण विकास एवं सर्वतोमुखी प्रगति हेतु शिक्षा अधिकतम बुनियादी आवश्यकता है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में हासिल उपलब्धियों में शिक्षा की आधारभूत 'इनपुट' की भूमिका रही है। भविष्य में हम 'भारत' का निर्माण कैसा करना चाहते हैं? यह भी हमारी वर्तमान शिक्षा की दशा एवं दिशा पर निर्भर करता है। भूत, वर्तमान और भविष्य का प्रकाशपुन्ज एवं फल-धारण शिक्षा ही है।

भारत में स्वराज्य प्राप्ति के बाद वर्ष 1947 से ही यह कोशिश की गई कि भारत की गरीबी जो अंग्रेजों के आर्थिक शोषण तथा सांस्कृतिक निस्सहाय का परिणाम थी, को समाप्त करने ही सुराज की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। इस हेतु स्वतंत्र भारत की आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा के ढांचे में परिवर्तन को अमल में लाना जरूरी समझा गया। शिक्षा नीति में ऐसे परिवर्तनों का समावेश किया गया, जिससे वह सभी को सुलभ हो, उपयोगी हो और गुणवत्ता में उसका स्तर उच्च हो। जहां एक ओर संख्यात्मक विस्तार का दबाव था वहीं गुणात्मक सुधार के प्रति जागरूकता भी थी। दृष्टिकोण समन्वयात्मक था। शिक्षा को मानव निवेश के रूप में देखा गया, जिससे देश की अर्थव्यवस्था की जरूरतों के मुताबिक मानव शक्ति विकसित हो सके तथा हमारी विरासत के शाश्वत मूल्यों की पकड़ मजबूत हो सके।

वास्तव में देश के शिक्षा-परिदृश्य में विगत चार दशकों में बहुत ही परिवर्तन हुआ है। शिक्षा सुविधाओं में बहुत विस्तार हुआ है तथा 'मास एजुकेशन' के हिसाब से यह स्वाभाविक था परन्तु गुणवत्ता में कतिपय टिमटिमाते दीपों को छोड़कर, स्थिति में गिरावट परिलक्षित हुई है। इसे विस्तार प्रक्रिया का परिणाम माना जाता है। शिक्षा सुविधाओं के विस्तार के फलस्वरूप स्वतंत्रता के समय साक्षरता का प्रतिशत 14 प्रतिशत था, यह बढ़कर 36.23 प्रतिशत हो गया। शिक्षा पर कुल व्यय 57 करोड़ रुपये हो गया। यदि गैर-योजना व्यय को इसके अन्तर्गत शामिल कर लिया जाए, तो रक्षा के बाद शिक्षा पर ही सबसे अधिक व्यय किया जा रहा है। अब पैदल दूरी पर देश के प्रायः सभी गांवों में स्कूल की सुविधा मुहैया हो गई है। स्वतंत्रता के समय देश में 17 विश्वविद्यालय थे, अब संख्या 150 को पार कर गई है। चिकित्सा महाविद्यालयों, कृषि महाविद्यालयों और उच्च ज्ञान की संस्थाओं की संख्या में दस गुणी से ज्यादा वृद्धि हो गई है। अब तो देश में 25 कृषि विश्वविद्यालय, एक चिकित्सा विश्वविद्यालय और एक आयुर्वेदिक विश्वविद्यालय कार्यरत हैं। जब देश स्वतंत्र हुआ था तब न शिल्प व प्राविधिक संस्थान थे, न प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र या औपचारिकेतर शिक्षा केन्द्र और न खुले विद्यालय तथा न ही मुक्त विश्वविद्यालय थे। व्यावसायिक और प्राविधिक शिक्षा की सुविधाएं नगण्य थीं। इस कारण से उच्च प्रशिक्षित मानवशक्ति का प्रायः अभाव था और कतिपय क्षेत्रों मे स्थिति शून्य थी। अब तो इस क्षेत्र में भारत विश्व के अग्रणी देशों में से एक है। अब तो यह कोशिश की जाती है कि दक्ष व प्रशिक्षित मानव शक्ति के पलायन को अवरुद्ध करके देश के आर्थिक विकास में भागीदार बनाया जाए। विदेशों में बसे भारतीयों को भी अब उत्प्रेरित किया जा रहा है कि वे देश लौटकर उच्च प्राविधि के क्षेत्र में प्राप्त ज्ञान, दक्षता एवं अनुभव से अर्थव्यवस्था के उन्नयन में अपनी हिस्सेदारी की भूमिका का निर्वाह करें। वास्तव में देश में शिक्षा के क्षेत्र में अभूतपूर्व विस्तार हुआ है और नये आयामों को हासिल किया है।

देश में शिक्षा के क्षेत्र मे बहुत-से आयोगों का गठन किया गया। इनमें से वर्ष 1964-66 के कोठारी शिक्षा आयोग बहुत महत्वपूर्ण है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति—1986 का आधार भी इसी आयोग की अनुशंसाओं को माना गया। युगों से चली आई परिपाटी को नई दिशा देने, मैकाले की बनाई परंपरा को सदा के लिए समाप्त करने तथा आगामी सदी की विभिन्न प्रकार की चुनौतियों का सामना करने में सक्षम हो सके—ऐसी शिक्षा नीति की पहल वर्ष 1986 में की गई। लेकिन बहुत-से सुझावों को कार्यरूप नहीं दिया गया। वित्तीय समर्थन बढ़ाने का भी सुझाव था। वर्ष 1947 में अविभाजित भारत में राष्ट्रीय आय का आधे प्रतिशत से कम ही शिक्षा पर व्यय होता था, यह बढ़कर लगभग 4 प्रतिशत हो गया है। यद्यपि विगत वर्षों में सकल राष्ट्रीय उत्पाद में शिक्षा पर व्यय का प्रतिशत बढ़ता रहा है। लेकिन वास्तविक आवश्यकता वर्तमान परिव्यय से बहुत अधिक है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति में यह सिफारिश की थी कि काफी बड़ी संख्या में शिक्षा उपलब्ध कराने के दायित्व को पूर्ण करने हेतु राज्य के सार्थक हस्तक्षेप की सफलता के लिए शिक्षा

पर सार्वजनिक निवेश को क्रमश: बढ़ाकर राष्ट्रीय आय का 6 प्रतिशत निर्धारित किया था परन्तु यह वायदा पूरा करने में क्या सरकार के साधन पर्याप्त हैं? यह बड़ा ही विरोधाभास लगता है कि जिस समाज में प्राचीनकाल में ज्ञान को मुक्ति का साधन माना गया था, उस देश का विश्व के देशों में राष्ट्रीय आय मे शिक्षा-निवेश में प्रतिशत के आधार पर 115वां स्थान है। देश में शिक्षा का हिस्सा पहली योजना में कुल योजनागत व्यय का 7.86 प्रतिशत था यह घटकर सातवीं योजना में 3.55 प्रतिशत पर आ गया। शिक्षा पर प्रतिशतता के हिसाब से उतनी वृद्धि नहीं हो पाई, जितनी जरूरी थी।

शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में बढ़ता हुआ असन्तुलन भी चिन्ता का विषय है। प्राथमिक शिक्षा से प्राप्त लाभ की दर अधिक होती है परन्तु खर्च का प्रतिशत पहली योजना के 56 प्रतिशत से घटकर सातवीं योजना में 29 प्रतिशत हो गया। इसी अवधि में विश्वविद्यालय और आम शिक्षा पर परिव्यय 18 प्रतिशत से बढ़कर 44 प्रतिशत हो गया। 'सबको शिक्षा' प्राप्ति का लक्ष्य तथा 14 वर्ष की उम्र तक के बच्चों को प्राथमिक शिक्षा देने के संवैधानिक आदेश के परिपालन हेतु यह स्थिति चिन्ता का विषय है। प्राथमिक शालाओं की संख्या में इतनी वृद्धि हुई है कि प्रत्येक बालक के घर से एक किलोमीटर की दूरी पर प्राथमिक स्कूल होते हुए भी शिक्षा के 'पिरामिड का आधार' सुदृढ़ नहीं हो पाया। इस हेतु न केवल राजकीय संसाधनों में वृद्धि करने की जरूरत है वरन् स्थानीय संस्थाओं तथा विभिन्न समाजों के संयुक्त प्रयासों से संसाधनों को जुटाकर प्राथमिक शिक्षा पर आबंटन में वृद्धि करना परमावश्यक है।

देश में शिक्षा के क्षेत्र में अनेक नवाचार किए गए हैं। प्रयोग एवं अनुभव की कमी नहीं है परन्तु शिक्षा सुधार के संबंध में अभी भी पूर्णतया सुविचारित धारणा कायम नहीं हो पाना और वह भी चार दशकों के बाद सोचने के लिए मजबूर करती है कि अभी भी शिक्षा में कोई विशेष संरचनात्मक बदलाव नहीं आया है तथा गुणात्मक गिरावट स्पष्ट नजर आती है। नवयुवकों को शिक्षा उद्देश्य विहीन नजर आ रही है और अनुशासन में बांधने में असमर्थ सिद्ध हो रही है। शिक्षा के प्रति नजरिया यह रहा है कि वह रोजगार प्रदान करती है परन्तु बढ़ती हुई बेरोजगारी ने नवयुवकों में शिक्षा के प्रति हताश दृष्टिकोण पनपा है। शिक्षा ने छात्रों में स्वरोजगार में संलग्नता हेतु आत्मविश्वास जनित करने में उतनी कामयाबी हासिल नहीं की जितनी स्वरोजगार स्थापित करने के लिए जरूरी है।

शिक्षा को शासन से मदद प्राप्त करके निजी क्षेत्र में प्रोत्साहन की नीति ने इसे एक व्यवसाय का रूप प्रदान कर दिया है। इससे जहां एक ओर शिक्षा में गुणवत्ता का ह्रास प्रारंभ होने में मदद मिली, वहीं शिक्षा जगत में भ्रष्टाचार पनपा है पब्लिक स्कूल तथा मिशनरी शिक्षण संस्थाओं में स्कूल शुल्क अत्यधिक होने से ये संस्थान आम लोगों की पहुंच के बाहर हैं। देश में शिक्षा एक ऐसा क्षेत्र है, जहां से समृद्ध और दरिद्र दोनों प्रकार के शिक्षा प्राप्त नवयुवक निकल रहे हैं। इस असमान स्थिति को पाटना ही दुष्कर कार्य है। शिक्षा को पूर्णतया सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत लाने हेतु सरकार के पास संसाधन नहीं है। क्या इसे संक्रमण काल की दशा मानकर भविष्य में आशावादी स्वाग का नजरिया समस्या के प्रति पलायनवादी सिद्ध नहीं करता? वास्तव में राष्ट्रीय शिक्षा नीति में अभी तक जरूरी परिपक्वता का न होना इसके अन्तर्निहित विरोधाभासों को उजागर करता है। शिक्षा ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है। यह अति संवेदनशील क्षेत्र है परन्तु जिसे कहीं रोजगार न मिले, उसके इस क्षेत्र में द्वार खुले हैं की प्रवृत्ति ने शिक्षा स्तर में ह्रास को जन्म दिया है। शिक्षा को दान मानकर जीवन का पवित्र ध्येय मन में रखकर समर्पित भावना से जीवन पर्यन्त जुटे रहकर शिक्षक के दायित्व का निर्वहन करना अब अतीत की बात हो गई है। शिक्षक पहले अपने शिष्यों से आदर स्वत: आत्मिक रूप से संचालित होकर प्राप्त करते थे, आज स्थिति इसके विपरीत है और अवसरवादिता दृष्टिकोण पनपकर व्यापक आकार ग्रहण कर चुका है।

शिक्षा के प्रति जनचेतना एवं भागीदारी उतनी विकसित नहीं हो सकी, जितनी एक लोकतान्त्रिक देश में चार दशकों के बाद स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् होना चाहिए। शिक्षा के प्रति अभी भी अलगाव वाला दृष्टिकोण विद्यमान है। अभी भी यह धारणा क्षीण है कि यह स्कूल शिक्षा संस्थान अपना है और इसे कामयाब होकर अपनी जड़ गहरी करके नाम करना है। शिक्षा व्यवस्था का प्रबंध सरकार का दायित्व है और हमें क्या लेना-देना का अग्रसित रवैया बदलाव चाहता है ओर यह भी वर्तमान शिक्षा पर निर्भर करता है।

इस देश में बढ़ती हुई आबादी को देखते हुए तथा रोजगार के कम अवसरों के सृजन को ध्यान में रखते हुए शिक्षा का जोर सफेदपोश रोजगार हेतु युवकों को न पैदा करके ऐसे रोजगार के लिए तैयार कर सकें जो स्वत: रोजगार में संलग्न हो सकें। बालकों की क्या रुचि है तथा क्या बनने की क्षमता है—यह बिलकुल उपेक्षित क्षेत्र है और भीड़ में से जहां जिसको प्रवेश मिलता है, ले लेता है। प्रतिभा को अपने अनुरूप खिलने का अवसर ही प्रदान नहीं किया जा रहा है। मनोवैज्ञानिक मार्गदर्शन व जांच के प्रसार की अति आवश्यकता है और प्रवेश के पूर्व इसे पूर्व शर्त के रूप आवश्यक किया जाना चाहिए।

शिक्षा के मंदिर वास्तव में पूजा के स्थल हैं जहां मनुष्य की एक आधारभूत स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति होती है। शिक्षा मनुष्य को प्रबुद्ध समाज की ओर आगे बढ़ाने में सहायक होती है। शिक्षा कार्य एवं रोजगार उन्मुख रही है और उपयोगिता की कसौटी पर हमेशा जांची जाती रही है। आज के नवयुवकों में शिक्षा के प्रति असंपृक्त रवैया या निराशापूर्ण दृष्टिकोण घर कर रहा है। इसके पीछे यही भावना कार्य कर रही है कि शिक्षा अब रोजगार का प्रभावी साधन नहीं रहा है और शिक्षा बेमतलब की, समय बर्बाद करने वाली है। इस दृष्टिकोण में बदलाव तभी आ सकता है जब शिक्षा के पाठ्यक्रमों में आमूलचूल परिवर्तन करके व्यवहार उन्मुख कर दिया जाए तथा ऐसे पाठ्यक्रमों का समावेश कर दिया जाए जिनकी आज की जरूरतों के मुताबिक रोजगार अवसरों के लिहाज से जरूरत है। देश में आधारिक संरचना है, मानव शक्ति है, जरूरत है अतीत से छुटकारा पाकर वर्तमान को जानते हुए भी अनभिज्ञ रवैये में क्रांतिकारी कदम उठाने की जिससे शिक्षा जीवन के लिए तथा उनकी उंगलियों में कोई हुनर भर सके। जीवन और पसीने से जुड़ी शिक्षा ही सृजनात्मक होती है। ऐसी शिक्षा को चाहे आप समग्र रूप में देखें, चाहे खण्ड रूप में—यह सब बेमानी है। आठवीं पंचवर्षीय योजना के दृष्टिकोण पत्र में शिक्षा पद्धति के परिवर्तन बिन्दुओं की ओर ध्यान आकर्षित करके उल्लेख किया है कि हमें शिक्षा को सफेदपोश कामों के लिए विशेषाधिकार तथा पहुंच की सीढ़ी के रूप में काम और लोगों की नागरिक एवं उत्पादक के रूप में क्षमताओं को बढ़ाने के साधन के रूप में अधिक बनाने की आवश्यकता है। इस हेतु जन साक्षरता और प्रारंभिक तथा माध्यमिक शिक्षा पर अधिक संसाधनों को बढ़ाना तथा ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा के व्यावसायिक एवं तकनीकी पहलुओं पर अधिक जोर देना होगा जिससे ग्रामीण शिक्षित अपने क्षेत्रों से शहरों की ओर पलायन न करें।

वैज्ञानिक (कृषि अर्थशास्त्र)
ज. ने. कृषि विश्वविद्यालय
जबलपुर-482004

(पृष्ठ 65 का शेष)

स्तरों वाले अधिक एवं कम उम्र के शिक्षार्थियों की जरूरतों को पूरा करने में यह व्यवस्था सफल नहीं कही जा सकती है। अधिकांश राज्यों में प्राथमिक स्कूलों के शिक्षकों द्वारा औपचारिकेत्तर केन्द्रों पर अंशकालिक अध्यापन किया जा सकता है जो इस कार्य में पूरी तरह रुचि नहीं लेते हैं। उचित प्रशिक्षण और पर्यवेक्षण के अभाव में इस व्यवस्था से वांछित परिणाम प्राप्त नहीं हो रहे हैं।

ग्रामीण निरक्षरता का एक अन्य आयाम प्रौढ़ निरक्षरता है जिसका उन्मूलन दुर्जेय कार्य प्रतीत हो रहा है। अधिकांश निरक्षर प्रौढ़ मात्र साक्षरता के लिए साक्षर बनने में रुचि नहीं रखते हैं। इसका कारण डा. एच. एस. भोला ने विश्लेषित करते हुए लिखा है कि वे साक्षरता को अनुभूत आवश्यकता नहीं समझते हैं—"जैविक आवश्यकताओं के अतिरिक्त मानवीय आवश्यकताएं सामाजिक और सैद्धांतिक रूप से निश्चित होती हैं और उन्हें अनुभूत आवश्यकताओं की श्रेणी में आने से पहले जानना और निजी आवश्यकताएं बनाना पड़ता है। प्रेरणा स्वतः प्रवर्तित होती है और उसे शिक्षा एवं नेतृत्व के माध्यम से गतिशील बनाया जाता है। निरक्षर प्रौढ़ों में न सिर्फ साक्षरता के प्रति प्रेरणा की कमी होती है बल्कि उनमें परिवार नियोजन, आहार शिक्षा और स्वास्थ्य शिक्षा के संदर्भ में भी यही कमी होती है। अत. हमारे समक्ष जो चुनौती है वह यह है कि साक्षरता की आवशकयता को इतना अधिक लोकप्रिय कैसे बना दिया जाए कि यह अनुभूत आवश्यकता बन जाए।"

अतः ग्रामीण क्षेत्रों में व्याप्त निरक्षरता का पूर्ण निराकरण तब तक संभव नहीं है जब तक नियोजित ढंग से प्राथमिक शिक्षा को क्रियान्वित नहीं किया जाता है। गैर-स्कूली निरक्षर बालकों के लिए औपचारिकेत्तर शिक्षा एवं निरक्षर प्रौढ़ों के लिए कार्यात्मक साक्षरता कार्यक्रम निरक्षरता उन्मूलन की दृष्टि से पूरक तो हो सकते हैं किन्तु इस दोयम दर्जे की समानान्तर शिक्षा व्यवस्था से बहुसंख्यक ग्रामीणों का कोई विशेष हित संवर्धन नहीं होगा क्योंकि विशाल ग्रामीण मानव संसाधन में छिपी प्रतिभाओं की पहचान तभी हो सकती है जब प्रत्येक बच्चे को प्राथमिक शिक्षा प्राप्ति के अवसर मिलें और श्रमपूर्वक उसकी प्रज्ञा को विकसित किया जा सके।

नाखरे गली,
गोपालगंज, सागर
पिन-470003 (मध्य प्रदेश)

आर.एन./708/57
डाक-तार पंजीकरण संख्या : डी (डी एन) 98
पूर्व भुगतान के बिना एन.डी.पी.एस.ओ., नई दिल्ली में डाक में डालने की अनुमति (लाइसेंस) : यू (डी एन)-55

P & T Regd. No. D (DN) 98
Licenced under U (DN)-55
to post without pre-payment at NDPSO, New Delhi